

तीर्थकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद, भारत

ऑनलाइन एवं दूरस्थ शिक्षा केंद्र



Accredited with NAAC **A** Grade

12-B Status from UGC

कार्यक्रम: बी.ए. जैनोलॉजी

विषय: जैन आगम में न्याय

तृतीय वर्ष – प्रथम पत्र

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1—जैन न्याय विद्या एवं इसके अध्ययन की आवश्यकता	1-16
पाठ-1 जैन न्याय विद्या का स्वरूप व उपयोगिता	1-5
पाठ-2 तर्क एवं तर्क के पक्ष में जैन आचार्यों के स्वर	6-8
पाठ-3 न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता	9-16
इकाई 2—जैन न्याय शास्त्र	17-33
पाठ-1 जैन तार्किक और उनके न्यायग्रंथ	17-25
पाठ-2 जैन न्याय की कतिपय प्रमुख कृतियाँ	26-28
पाठ-3 जैन न्याय के कतिपय प्रमुख पारिभाषिक शब्द	29-30
पाठ-4 अनेक प्रकार के प्रसिद्ध न्याय	31-33
इकाई 3—प्रमाण मीमांसा	34-48
पाठ-1 न्याय के अंग व प्रमाण का स्वरूप	34-38
पाठ-2 प्रमाण के भेद प्रभेद	39-43
पाठ-3 प्रमाण का फल एवं सर्वज्ञसिद्धि	44-48
इकाई 4—प्रमेयादि विविध विषयों का विवेचन	49-68
पाठ-1 प्रमेय, प्रमिति एवं प्रमाता	49-54
पाठ-2 विभिन्न मतानुसार प्रमाण का लक्षण	55-63
पाठ-3 सच्चे आप्त के संबंध में तर्क संगत विवेचना	64-65
पाठ-4 ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खण्डन	66-68
इकाई 5—ज्ञान मीमांसा	69-103
पाठ-1 सम्यग्ज्ञान के भेद व मतिज्ञान	69-74
पाठ-2 श्रुतज्ञान एवं श्रुतावतरण इतिहास	75-86
पाठ-3 प्रत्यक्ष ज्ञान	87-92
पाठ-4 चारों अनुयोगों की सार्थकता	93-103

इकाई-1 जैन न्याय विद्या एवं इसके अध्ययन की आवश्यकता

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों को प्रस्तुत किया गया है—

- (1) जैन न्याय विद्या का स्वरूप व उपयोगिता
- (2) तर्क एवं तर्क के पक्ष में जैन आचार्यों के स्वर
- (3) न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

पाठ-1—जैन न्याय विद्या का स्वरूप व उपयोगिता

1.1 जैन तत्त्व विद्या, ज्ञानमीमांसा, आचारशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि विषयों के अतिरिक्त जैन आचार्यों ने न्यायशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रचुर श्रेष्ठ साहित्य की रचना की है। वह साहित्य निःसंदेह समग्र भारतीय न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र की अमूल्य निधि के रूप में प्रतिष्ठाप्राप्त है, सर्वज्ञ-वाणी, परम सत्य व स्वतःप्रमाण है। कोई भी सम्यग्दृष्टि जैन श्रावक उसमें संदेह नहीं करता। 'न्यायविद्या' का प्रयोग संदेह-निराकरण के लिए होता है, स्वतः निर्णीत पदार्थ में नहीं।

1.2 न्यायविद्या : स्वरूप-परिचय—

'न्यायविद्या' से तात्पर्य उस शास्त्र से है, जिसके द्वारा किसी वस्तु या किसी तत्त्व की युक्ति व प्रमाण के माध्यम से परीक्षा करते हुए, उसकी सत्यता या असत्यता का निर्णय तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उक्त प्रक्रिया द्वारा निर्णीत सिद्धान्त को भी 'न्याय' कहा जाता है। इसी न्यायविद्या को आन्वीक्षिकी भी कहा जाता रहा है। चूँकि इस शास्त्र में तत्त्व-निर्णय का प्रमुख आधार युक्तिसंगत प्रमाण होता है इसलिए इसे 'प्रमाणशास्त्र' भी कहा जाता है। चूँकि 'तर्क' (युक्तिपूर्वक विचार-विमर्श आदि) 'प्रमाण' का अनुग्राहक होता है इसलिए इसे 'तर्कशास्त्र' या 'तर्कविद्या' भी कहा जाता है। प्रमाणों में अनुमान प्रमाण की विशिष्ट उपादेयता मानी गयी है क्योंकि जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण वर्तमानकाल का ही ज्ञान कराता है वहाँ अनुमान प्रमाण भूत-भावी-वर्तमान, तीनों काल के पदार्थों का बोध कराता है। अनुमान-प्रमाण का शरीर (प्रतिज्ञा आदि) पाँच अवयवों वाला अनुमान-वाक्य होता है अतः 'पंचावयव वाक्य' को भी, जो समस्त प्रमाणों का समवेत रूप होता है, 'परम न्याय' कहा जाता है।

1.3 न्यायविद्या की उपयोगिता—

प्रत्येक मानव में तर्कणा शक्ति होती है, जिससे वह लोक-व्यवहार में हेय-उपादेय का निर्णय करता है, कुछ अज्ञात व अदृश्य वस्तु के सद्भाव का अनुमान भी कर लेता है। अनपढ़ व्यक्ति भी अपने पूर्व अनुभव के आधार पर आकाश में बादलों की घटा देखकर वर्षा होने का तथा नदी में आई बाढ़ से कहीं अन्यत्र वर्षा होने का बोध भी कर लेता है। इसी तर्कणा शक्ति का व्यवस्थित विकास करने की दृष्टि से महर्षि गौतम व महर्षि कणाद ने क्रमशः न्याय व वैशेषिक दर्शन जैसे व्यवस्थित शास्त्र को प्रस्तुत किया। ये दोनों दर्शन भारतीय न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र के आधारभूत माने जाते हैं। इनमें प्रमाण का स्वरूप, उसके भेद, ज्ञान की प्रक्रिया, प्रमाणाभास, प्रमेय या पदार्थ का स्वरूप और उनकी संख्या या भेद, तत्त्वचर्चा या तत्त्वनिर्णय हेतु वाद-प्रतिवाद तथा उसमें होने वाली जय या पराजय का आधार आदि-आदि विषयों पर परवर्ती व्याख्याकारों ने विस्तृत निरूपण किया है, जो भारतीय न्यायविद्या की प्रमुख निधि है। इन दर्शनों का उद्घोष था कि तर्क और प्रमाणाधारित ज्ञानात्मक निर्णय—ये दोनों लोकव्यवहार में उपयोगी हैं और इनके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह न्यायविद्या समस्त कर्मों में उपायभूत है, समस्त धर्मों का आश्रय है, सभी विद्याओं की प्रकाशिका है।

1.4 जैन परम्परा में न्यायविद्या—

जैन परम्परा में 'न्यायविद्या' को पूर्ण समादर प्राप्त हुआ है। जैन पुराणों के अनुसार न्यायशास्त्र का सद्भाव चक्रवर्ती की 'काल' नामक निधि से माना जाता है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार यह न्यायविद्या तत्त्वज्ञान में सहायक तथा रत्नत्रय का कारण भी है। आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में आन्वीक्षिकी को अध्यात्म-क्षेत्र में कार्यकारी माना है।

जिनागम स्वतः प्रमाण, अतः अपरीक्ष्य—

जैन परम्परा हो या वैदिक परम्परा, उसके अपने-अपने आगम शास्त्र हैं। जैसे—वैदिक परम्परा में वेद (उपनिषद, स्मृति आदि) और जैन परम्परा में द्वादशांग जिनवाणी। जिनवाणी चूँकि सर्वज्ञ की वाणी है अतः वह स्वतःप्रमाण है, सत्य है, यथार्थ है। उसमें प्रतिपादित समस्त तत्त्व भी यथार्थ हैं। उनकी परीक्षा किन्हीं युक्तियों या प्रमाणों से करना क्या उचित है ? वैसा करना सर्वज्ञ-वाणी पर संदेह करना मिथ्यात्व का सूचक होगा। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था। इस प्रश्न पर जैन आचार्यों ने क्या ऊहापोह किया ? किया था तो किस आधार पर या किस कारण से जैन परम्परा में न्यायविद्या को प्रतिष्ठा मिली ? इस विषय पर प्रकाश डालना यहाँ प्रासंगिक होगा।

1.5 जैन परम्परा में 'तर्क' की स्थिति—

अब जैन परम्परा में तर्क की स्थिति को समझें। यहाँ भी वैदिक परम्परा जैसी ही स्थिति रही। यहाँ यह मौलिक मान्यता थी कि जिनागम परम प्रमाण हैं। सच्चे जैन को इन पर कभी कोई शंका ही नहीं होती, यद्यपि इनकी प्रत्यक्ष से एवं किसी साधक लिंग (हेतु) से उपलब्धि नहीं होती। कोई भी सूत्र या आगम अप्रमाण (अप्रमाणित) नहीं हो सकता अन्यथा उसकी सूत्रता या आगमता ही नहीं रहेगी। सर्वज्ञ के (आर्ष) वचन की स्वतः प्रमाणता इसलिए है कि एक तो वह वस्तु-स्वभाव का निरूपण करता है और स्वभाव तर्क-गोचर नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि वह स्वयं (केवलज्ञान द्वारा) प्रत्यक्ष करके निरूपित हुआ है। वस्तुतः आगम के उपदेष्टा जिनेन्द्र कभी असत्यवादी नहीं हो सकते, हेतु या तर्क से उन पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। जिनेन्द्र द्वारा जो भी कहा गया है, वह उसी रूप में आज्ञा के रूप में ग्राह्य है। जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों, विशेषकर अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्यता व यथार्थता असंदिग्ध है किन्तु छद्मस्थ व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त तर्क कभी जिनवाणी के विरुद्ध भी जा सकता है, ऐसी स्थिति में तर्क का प्रयोग स्वतः अनुपादेय, अस्वीकार्य हो जाता है। ध्वलाकार की स्पष्ट उद्घोषणा थी कि आगम 'तर्क' से अगोचर हैं। चूँकि तर्क को बुद्धि-कौशल से किसी भी तरफ मोड़ा जा सकता है, पक्ष में भी और विपक्ष में भी, इसीलिए कहा गया है—तर्कोऽप्रतिष्ठः अर्थात् तर्क प्रतिष्ठा योग्य नहीं।

अतः ध्वलाकार ने अपना यह स्पष्ट मन्तव्य दिया कि अतीन्द्रिय पदार्थों में छद्मस्थ व्यक्तियों द्वारा किया गया विकल्प (तर्क) सदा जिनागम का अविरोधी (अविरोधी, समर्थक) ही हो—यह नियम नहीं (अर्थात् तर्क कभी जिनागम के विरोधी भी हो सकते हैं)। चूँकि यह सिद्धान्त है कि युक्ति या तर्क जिनवाणी को बाधित नहीं कर सकते इसलिए जिनागम-विरोधी युक्ति या तर्क 'अयुक्ति' या 'कुतर्क' है क्योंकि अप्रमाण से प्रमाण बाधित नहीं होता। उ जिनागम-विरोधी होने से जैन परम्परा ने न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों को मिथ्यादर्शन की श्रेणी में रख दिया—यह तथ्य भी यहाँ मननीय है, जो मनु द्वारा वेदबाह्य दर्शन को तामसिक, निष्फल व कुदृष्टि मानने का एक प्रत्युत्तर समझा जा सकता है।

इसी क्रम में ध्वलाकार का यह मत भी उल्लेखनीय है कि सर्वज्ञदृष्ट विषयों में छद्मस्थों के ज्ञानविकल्प (तर्क आदि) प्रवृत्त नहीं होते इसलिए छद्मस्थ व्यक्तियों द्वारा जिनवाणी को अप्रमाणित नहीं किया जा सकता।

1.6 आगमविरोधी तर्क मान्य नहीं—

पहले तो केवली या श्रुतकेवली द्वारा कहा गया सत्य तर्क का विषय ही नहीं है। कभी किया भी जाय और वह सत्य के विरुद्ध हो तो उसे प्रमाण कभी माना नहीं जा सकता। इस विषय में कुछ उदाहरण भी जैन आचार्यों ने यत्र-तत्र प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ—आगम का वचन है कि 'निगोद जीव सिद्धों से अनन्त गुने होते हैं किन्तु तर्क व युक्ति इस सत्य के विपरीत जाती है। वह तर्क इस प्रकार है—'आठ समय व छः मास में छः सौ आठ जीव कर्मक्षय कर सिद्ध हो जाते हैं। इस तरह सिद्ध राशि की क्रमशः वृद्धि होती ही जाएगी, ऐसी स्थिति में कभी सिद्धों की संख्या से निगोद जीवों की संख्या कम होगी है।' आगम को बाधित करने वाला यह तर्क माना नहीं जा सकता। सिद्धान्ततः जिनोपदिष्ट सूक्ष्म पदार्थ तर्क के विषय नहीं बनाये जा सकते।

इस तरह उसी तर्क को जैन परम्परा ने मान्य किया, जो शास्त्र का, जिनवाणी का पोषक हो, दूसरे शब्दों में जिन-शासन की प्रभावना में कारण हो। इसी दृष्टि से उत्तरपुराण में कहा गया कि वही वैयाकरण है, वही तार्किक है, वही न्यायवेत्ता है और वही सिद्धान्तविशारद है जो जिनशासन की प्रभावना करता है अन्यथा तार्किक, नैयायिक आदि उपाधियाँ निरर्थक ही हैं।

निष्कर्ष यह है कि वैदिक परम्परा में मनु ने जो यह कहा था कि शास्त्र-अविरुद्ध तर्क से धर्म का ज्ञाता ही धर्मज्ञ है, अन्य नहीं, उसी चिन्तन को जैन परम्परा में भी मान्य किया गया है। संभवतः दोनों संस्कृतियों में वैचारिक उदारता समान शैली में विकसित हुई कही जा सकती है। आचार्य हरिभद्र ने मनु के उक्त वचन को ज्यों का त्यों उद्धृत करते हुए ही जैन मन्तव्य को स्पष्ट किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी (आत्मख्याति, समयसार गाथा-८६) शास्त्र-अविरोधी प्रमाण से तत्त्वज्ञान करने से मोह का क्षय होना बताया है।

1.7 श्रद्धा व तर्क का सामंजस्य कैसे हो ?

आखिर, किन स्थलों पर तर्क को उचित स्थान दिया जाए और किन स्थलों पर नहीं, इस विषय पर जैन परम्परा में पर्याप्त चिन्तन हुआ और आचार्य सिद्धसेन ने श्रद्धा व तर्क के सामंजस्य का एक सूत्र प्रस्तुत किया। उसका सार यह है—जिनवाणी का कुछ भाग तो ऐसा है जो मात्र श्रद्धागम्य ही है, जैसे भव्य व अभव्य का विभाग। किन्तु सारा भाग ऐसा नहीं है। कुछ भाग ऐसा भी है, जहाँ तर्क को स्थान दिया जा सकता है। जैसे—वस्तु की अनेकान्तात्मकता, उसकी उत्पाद-व्यय-धुत्ररूपता, जिसे तर्क व युक्ति से अनुभवगम्य कराया जा सकता है। वहाँ तर्क का प्रयोग वर्जित नहीं है। आचार्य सिद्धसेन ने आगम को विषय की दृष्टि से दो रूपों में विभक्त किया—हेतुवाद व अहेतुवाद। हेतुवाद आगम में हेतु (तर्क) प्रयोग मान्य है, अहेतुवाद आगम में नहीं। ऐसा नहीं करने वाला सिद्धान्त का विराधक होगा। इस प्रकार अहेतुवाद आगम में हेतुवाद का प्रयोग 'अनधिकृत' माना गया है। इसी मन्तव्य का समर्थन पंडित राजमल्ल जी ने भी पंचाध्यायी में किया है।

इसी तरह, जहाँ युक्ति व तर्क बाधक या साधक उपलब्ध न हो, वहाँ तो सर्वथा आगम प्रमाण ही मान्य रहा।

तर्क की प्रतिष्ठा में वृद्धि—

जब 'हेतुवाद आगम' में युक्ति व तर्क के प्रयोग को अनुमति मिल गयी तो अनेक आगमिक विषयों को तर्कसंगत बनाने के लिए प्रयत्न बढ़ा। जैन आचार्य या टीकाकार का यह प्रयत्न होने लगा कि वे आगमगम्य विषयों को यथासंभव युक्ति व तर्क के द्वारा भी सिद्ध करें ताकि विषय-वस्तु अंधविश्वास मात्र न रहकर तर्कसंगत भी हो जाए। उदाहरणार्थ—न्यायदर्शन चक्षु को प्राप्यकारी मानता है, बौद्ध नहीं मानता। आचार्य पूज्यपाद व आचार्य अकलंक ने इसे आगमप्रमाण के साथ-साथ युक्ति व तर्क के माध्यम से भी पुष्ट किया। उन्होंने कहा कि चक्षु यदि प्राप्यकारी होती तो अपने अंजन को भी जान-देख पाती, किन्तु ऐसा नहीं होता इसलिए चक्षु अप्राप्यकारी ही है। इसी तरह, चक्षु को छोड़कर अन्य चार इन्द्रियों को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए धवलाकार ने युक्ति व तर्क प्रस्तुत किया कि 'धव' वृक्ष अप्राप्त 'निधि' को

ग्रहण करता हुआ देखा जाता है, तूंबड़ी की लता में अप्राप्त बावड़ी व वृक्ष आदि की ओर बढ़कर स्पर्श (प्राप्य) करने की प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिए ये इन्द्रियाँ प्राप्यकारी सिद्ध होती हैं।

1.8 प्रथम तार्किक आचार्य समन्तभद्र—

कालक्रम से दार्शनिक क्षेत्र में न्यायविद्या या तर्कविद्या का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ता गया। युक्तिशास्त्रों में प्रवीण आचार्यों में आचार्य समन्तभद्र एक पुरोधा के रूप में आए। परवर्ती आचार्यों में आचार्य सिद्धसेन, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंक, आचार्य विद्यानंदि आदि अनेकानेक उल्लेखनीय आचार्य हुए, जिन्होंने जैन न्यायविद्या को समृद्ध किया, जो सर्वविदित है। उक्त विकास-प्रक्रिया के उल्लेखनीय बिन्दु इस प्रकार हैं—

आचार्य समन्तभद्र ने ताल ठोककर कहा कि जिनागम सर्वथा अनुल्लंघनीय है, वह प्रत्यक्ष व परोक्ष किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं हो सकता। वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से अविरोद्ध प्ररूपणा वाला तथा युक्तानुशासन (अर्थात् युक्तिसंगत देशना वाला) है। निश्चित ही इस कथन पर जैनेतर दर्शन के आचार्यों में प्रतिक्रियास्वरूप जैन मान्यता को तर्क के सहारे खण्डित करने की प्रवृत्ति भी सम्पन्न हुई होगी। अन्य दर्शनों ने जैन मन्तव्यों पर आक्षेप करने शुरू कर दिए, जैन आचार्यों ने भी अपने प्रखर तर्कों से उनका खण्डन करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार, जैन न्यायविद्या के क्षेत्र में तार्किक प्रखरता बढ़ती गयी और परस्पर खण्डन-मण्डन के क्षेत्र में भी जैन परम्परा ने अपनी विजय-पताका लहराई। जैसा कि विदित है कि आचार्य समन्तभद्र ने अपनी तार्किक प्रखरता से देश के कोने-कोने में विजयपताका फहराकर 'वादिराट्' जैसी उपाधि प्राप्त की थी।

इतना ही नहीं, आचार्य समन्तभद्र ने तर्क व युक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिए अंधविश्वास पर भी करारी चोट की। अपनी 'आप्तमीमांसा' कृति के मंगलाचरण में वे कहते हैं कि हे प्रभो! आप इसलिए महान् नहीं हैं कि आपकी सेवा में देवगण आते हैं या आप (पृथ्वी से ऊपर) आकाश में विचरण करते हैं या आपका महान् ऐश्वर्य प्रकट होता है, आप तो इसलिए महान् हैं कि आप ही ऐसे निर्दोष व्यक्तित्व वाले हैं जिसकी वाणी युक्ति-शास्त्र से कहीं विरुद्ध (असंगत) नहीं होती और आपका कथन किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। उन्होंने हेतुवाद का आश्रयण कर 'सर्वज्ञता' की सिद्धि भी की, क्योंकि इसी पर जिनवाणी की प्रमाणता टिकी हुई थी। साथ ही, उन्होंने अन्य दर्शनों को एकान्तवादी तथा प्रत्यक्षादिबाधित प्रतिपादन करने वाला बताकर उन पर प्रहार भी किया।

आचार्य समन्तभद्र ने परस्पर-विरोध में संलग्न समस्त दर्शनों को उनकी दुर्बलता का बोध कराया और उन्हें स्तुति के माध्यम से ही सही, स्व-परप्रणाशी, स्व-परवैरी, आत्मघाती, आत्मद्वेषी आदि विशेषणों से अभिहित किया। निश्चित ही इससे अन्य दर्शनों व जैन दर्शनों के मध्य खुलकर खण्डन-मण्डन का वातावरण गर्मा गया होगा और परवर्ती आचार्यों को भी जैनशासन की प्रभावना हेतु शास्त्रार्थ या वाद-विवाद के क्षेत्र में कटिबद्ध होकर कूदना पड़ा।

आचार्य हरिभद्र तक जैन न्यायविद्या पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुकी थी और यह सिद्ध हो गया कि जैन शासन को किसी भी युक्ति या तर्क से कोई खतरा नहीं है। ऐसी स्थिति में जैन आचार्यों में आत्मविश्वास पूर्णतः दृढ़ हो गया। आचार्य हरिभद्र के इस कथन में अपराजेयता का दृढ़ विश्वास ही प्रकट हो रहा है कि 'न तो भगवान महावीर के प्रति मेरा कोई पक्षपात है और न ही मेरा कपिल आदि के प्रति द्वेष। आओ, विचार-विमर्श करो, जो भी युक्तिसंगत हो, उसे स्वीकार करो।

1.9 जैन न्यायविद्या का अपना वैशिष्ट्य—

जैन न्याय विद्या अन्य दर्शनों की न्यायविद्या की अपेक्षा कुछ विशिष्ट थी। उन विशेषताओं को यहाँ रेखांकित करना प्रासंगिक होगा। जैन परम्परा ने मात्र प्रमाण को ही अर्थ परीक्षण में पर्याप्त नहीं समझा, उसने उसके साथ नय, निक्षेप व युक्ति को भी सम्मिलित किया। तिलोपपण्णत्ति में कहा गया कि नय, प्रमाण व निक्षेप के बिना अर्थ-परीक्षण करने पर युक्तिसंगत भी अयुक्तियुक्त और अयुक्तियुक्त भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है। आचार्य परम्परा से क्रमागत यह न्याय रत्नत्रय का कारण होता है।

इस विशेषता के अतिरिक्त अनेकान्तवाद, नयवाद व स्याद्वाद के आलोक में तत्त्व की या किसी दर्शन-विशेष की समीक्षा करना—यह भी एक विशेषता रही है। 'ज्ञान' को प्रमाण की कोटि में रखना आदि मान्यताएँ भी जैन न्यायविद्या की अपनी विशिष्ट पहचान हैं।

1.10 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—न्याय विद्या का स्वरूप क्या है ?

प्रश्न 2—जैन परम्परा में न्याय विद्या को किस तरह से बताया है ?

प्रश्न 3—न्याय विद्या की उपयोगिता बताइये ?

प्रश्न 4—जैन न्याय विद्या की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 5—प्रथम तार्किक आचार्य कौन हुए हैं ? उन्हें कौन सी उपाधि मिली थी ?

पाठ-2 – तर्क एवं तर्क के पक्ष में जैन आचार्यों के स्वर

2.1 तर्क—जो ज्ञान अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक व्याप्ति का निश्चय कराता है वह तर्क है। इसे ऊह, ऊहा और चिन्ता भी कहा जाता है। 'इसके होने पर ही यह होता है', यह अन्वय है और 'इसके न होने पर यह नहीं होता', यह व्यतिरेक है, इन दोनों पूर्वक यह ज्ञान साध्य के साथ साधन में व्याप्ति का निर्णय कराता है। इसका उदाहरण है—'अग्नि के होने पर ही धूम होता है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता' इस प्रकार अग्नि के साथ धूम को व्याप्ति का निश्चय कराना तर्क है। इससे सम्यक् अनुमान का मार्ग प्रशस्त होता है।

वह न प्रमाण के विषय का परिशोधक है और न प्रमाण सम्पोषक, जैसा कि वैशेषिक—नैयायिक मानते हैं। वह स्वतंत्र प्रमाण है। उसके विषय (व्याप्ति) का निश्चय न प्रत्यक्ष से संभव है, क्योंकि वह केवल वर्तमान का ज्ञापक होता है और व्याप्ति समस्त देश—काल विषयिणी होती है, न अनुमान से उसका ग्रहण सम्भव है, क्योंकि उसी अनुमान से उसका निश्चय मानने पर अन्योन्याश्रय तथा अन्य अनुमान से उसका ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष आते हैं। अतः व्याप्ति—निर्णायक एकमात्र तर्क प्रमाण है।

2.2 दर्शन और तर्क—

दर्शन और तर्क दोनों भिन्न हैं, लेकिन आज दोनों पर्यायवाचक जैसे प्रतीत होते हैं। दर्शन का स्थान तर्क ग्रहण करता जा रहा है। दर्शन परम सत्य अथवा परम तत्त्व को देखने एवं प्राप्त करने का उपाय, मार्ग अथवा दृष्टिकोण है। विशुद्ध विचार का नाम दर्शन है, परन्तु विचार—स्वर्ण की परीक्षा तो तर्क की अग्नि में होती है। तर्क की कसौटी में निखरा विचार विशुद्ध होता है। विचार में दोष—आग्रह, मोह, पक्षपत, बुद्धि का मलिनता और दृष्टि के संकोच के कारण आते हैं। तर्क इन दोषों का निराकरण करके विचार को शुद्ध बनाता है और बुद्धि को निर्मल करता है। अतः तर्क को दर्शन का अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग माना गया है। कहा गया है—

मोहं रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धि,

सूते च संस्कृत—पद—व्यवहार—शक्तिम्।

शास्त्रान्तरभ्यसन योग्यतया युनक्ति;

तर्क—श्रमो न तनुते किमिहोपकारम्॥

अर्थात् तर्कशास्त्र में किया गया श्रम, व्यक्ति के व्यक्तित्व—विकास का पथ प्रशस्त करता है। व्यामोह को दूर करता है। बुद्धि को विमल बनाता है। परस्पर के व्यवहार की योग्यता को बढ़ता है। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन की क्षमता प्रदान करता है।

2.3 तर्क का उपयोग—

भारतीय दर्शन में, तर्कशास्त्र को हेतु—विद्या, हेतु—शास्त्र, प्रमाणशास्त्र और न्यायशास्त्र कहा गया है। तर्क का उपयोग मुख्यतया तीन प्रयोजनों के लिए किया जाता है जैसे कि—

(क) अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए और अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए।

(ख) अपने मत पर किए गए, आरोप, आक्षेप या दोष के निवारण के लिए।

(ग) विरोधी के मत एवं सिद्धान्त के खण्डन के लिए।

वाद, जल्प, कथा और सम्वाद भी तर्कशास्त्र के ही अंगभूत हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय ही अपनी रक्षा के लिए तथा विरोधी पर आक्रमण करने के लिए तर्कशास्त्र का भरपूर उपयोग करता था। वादविद्या और वादशास्त्र का अध्ययन करता था। तीर्थंकर के शिष्यों में वादी—प्रतिवादी शिष्य भी होते थे, जिनका संघ में आदर—सत्कार एवं सम्मान होता था। ब्राह्मण परम्परा में, बौद्ध परम्परा में और जैन परम्परा में भी शास्त्रार्थी विद्वानों का होना परम आवश्यक माना जाता था।

शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करना धर्म की प्रभावना का एक प्रधान अंग था।

इस प्रकार, जैन परम्परा में (अत्यन्त सूक्ष्म व अतीन्द्रिय पदार्थों को छोड़कर) सर्वत्र युक्ति व तर्क का आश्रय लेकर तत्त्वज्ञान-प्रक्रिया के आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होता गया और जैन न्यायशास्त्र का साहित्य-भण्डार समृद्ध होता गया। न्यायशास्त्र के अतिरिक्त भी अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, आचारशास्त्र आदि विषयों से संबद्ध ग्रंथों या उनकी व्याख्याओं में तर्क का वर्चस्व बढ़ता गया। मौलिक ग्रंथों में भी यथासंभव अपनी बात को युक्ति व तर्क के सहारे कहने का प्रचलन बढ़ा। इस तथ्य के समर्थक कुछ विवरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

(1) धवला में 'न्याय' की उपयोगिता को लोकव्यवहार में रेखांकित करते हुए कहा गया कि 'न्याय' को लोकव्यवहार से बहिर्भूत नहीं मानना चाहिए।

(2) कसायपाहुड़ में कहा गया कि जो शिष्य युक्ति की अपेक्षा किये बिना मात्र गुरुवचन के आधार पर प्रवृत्ति करता है, उसे प्रमाणानुसारी (प्रामाणिक) मानने में विरोध (असंगति) है।

(3) नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव ने 'आन्वीक्षिकी' के कई लाभ बताये। उनके विचार में आन्वीक्षिकी का अध्येता युक्तिपूर्वक कार्य-अकार्य के बलाबल (लाभ-हानि) का सही विचार कर पाता है, फलस्वरूप वह किसी संकट में नहीं पड़ता, अभ्युदय में मदोन्मत्त नहीं होता और बुद्धिकौशल व वाणीकौशल को प्राप्त करता है।

(4) अध्यात्मविद्या में भी इसकी उपयोगिता 'हेतुविचय' नामक धर्मध्यान (दस प्रकारों में एक) में रेखांकित की गयी। तर्क का अनुसरण कर व्यक्ति द्वारा स्याद्वादपद्धति का आश्रय लेकर समीचीन मोक्षमार्ग का चिन्तन-मनन करना 'हेतुविचय' धर्मध्यान होता है। इसी तरह आज्ञाविचय व अपायविचय धर्मध्यान में न्यायविद्या की उपयोगिता समाहित दृष्टिगोचर होती है।

(5) सूत्र के लक्षण में 'हेतुमत्' विशेषण से भी सूत्र का सयुक्तिक होना लक्षित होता है। (हेतुमत् का अन्य अर्थ सप्रयोजन, सोदेश्य भी होता है।) सूत्रकारों ने भी अपनी मर्यादा में रहते हुए भी, यथासंभव अपने कथन में युक्ति या तर्क भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्र उल्लेखनीय हैं—

“सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेः उन्मत्तवत्।

“तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात्। पूर्वप्रयोगाद् असङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात् तथागतिपरिणामाच्च।

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवद् एण्डबीजवद् अग्निशिखावच्च।। धर्मास्तिकायाभावात्।

उपर्युक्त सूत्रों में सूत्रकार ने दृढ़ हेतु व दृष्टान्त की प्रस्तुति के साथ अपना कथ्य निरूपित किया है, यद्यपि यह कार्य व्याख्याकार भी कर सकता था।

(6) आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में भी यत्र-तत्र 'जम्हा, तम्हा' पदों से गाथा में तर्क व युक्ति के माध्यम से आगमोक्त विषयों को बुद्धिगम्य बनाने का प्रयास पाया जाता है।

(7) धवला (एवं अन्यान्य ग्रंथों) में अनेक 'न्यायोक्ति' प्रयुक्त हैं और जिनके माध्यम से विषय-वस्तु को अधिक बुद्धिगम्य कराने का प्रयास किया गया है। प्रमाणमीमांसा व स्याद्वादमंजरी में भी अनेक न्यायोक्तियाँ देखी जा सकती हैं।

(8) तर्क व वर्चस्व इतना बढ़ा कि इसे प्रभावना का भी एक साधन माना गया। उत्तरपुराण में यहाँ तक कहा गया कि अन्य प्रतिपक्षी विरोधी दार्शनिकों के दर्प को चूर-चूर कर, शूरता-वीरता के साथ, जैन धर्म की प्रभावना की जानी चाहिए।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि उपर्युक्त स्थिति एक सामयिक परिस्थिति की उपज थी, क्योंकि जैन परम्परा की मूल मान्यता तो आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में यह थी कि पर-दर्शनों के साथ विवाद न किया जाये। किन्तु अन्य दार्शनिकों द्वारा खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया में जब तटस्थता की जगह द्वेषभाव आने लगा, जैन आचार्यों को विवश होकर अपनी सुरक्षा हेतु शास्त्रार्थ-प्रक्रिया में उतरना पड़ा और विरोधियों को परास्त भी करना पड़ा। वस्तुतः कुछ प्राचीन आचार्यों व साधुओं में 'वादित्व' ऋद्धि हुआ करती थी, जिससे परतीर्थिक सहज निरुत्तर हो जाते थे।

2.4 आचार्यश्री समन्तभद्र के अनुसार न्याय विद्या—

समस्त दार्शनिक दृष्टियाँ या तो अभेदग्राहिणी होती हैं या भेदग्राहिणी। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यार्थिक नय है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायार्थिक नय है। इन्हीं के सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ व एवम्भूत नय। आचार्य सिद्धसेन ने स्पष्ट किया कि नैयायिक-वैशेषिक दर्शन नैगमनय के प्रतिनिधि हैं तो सांख्य व ब्रह्मवादी (अद्वैत) दर्शन संग्रह नय के प्रतिनिधि हैं। चार्वाक दर्शन व्यवहार नय का, बौद्ध दर्शन ऋजुसूत्र नय का प्रतिनिधित्व करता है।

वैशेषिक व बौद्ध कार्य व कारण में भेद मानते हैं और सांख्य दर्शन दोनों में अभेद मानता है। इनमें एक दृष्टि भेदग्राहिणी है और दूसरी दृष्टि अभेदग्राहिणी। अतः प्रत्येक दर्शन सत्य का अंश है, पूर्ण सत्य नहीं। यदि वह स्याद्वाद व अनेकान्तवाद की शरण ग्रहण करे और अन्य दर्शन का भी आदर करे, परस्पर-सापेक्ष होकर अपना मत प्रकट करे तो सत्यांश होते हुए भी 'सत्य' की कोटि में अपने को प्रतिष्ठापित कर सकता है।

आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में जिस प्रकार रसायन से संयुक्त होकर लोहा भी स्वर्ण हो जाता है, उसी प्रकार सभी नयात्मक दर्शन 'स्यात्' पद से संयुक्त होकर स्वर्णवत् उपादेय हो जायेंगे। वस्तुतः प्रत्येक दर्शन का दुराग्रह ही है जो उसे अन्य दर्शन विरोधीरूप में दिखाई पड़ते हैं। 'स्यात्' पद, जो सापेक्षता का, परस्पर समन्वय का सूत्र है, उसमें बंध जायें तो परस्पर-विरोधी दिखेगा ही नहीं। इस प्रकार जैन न्यायविद्या ने सब दर्शनों को जोड़ने का काम किया, तोड़ने का नहीं। यह इसकी परम विशेषता है।

निष्कर्ष में, जैन न्यायविद्या ने क्रमशः समय की मांग को देखते हुए तर्क व युक्ति को महत्व दिया और न्यायशैली को अपने स्याद्वाद के रंग में ढाल कर समृद्ध किया, यथासमय परपक्षनिराकरण में भी अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित की और वस्तुतः स्याद्वादशासन को दार्शनिक क्षेत्र में अलंघ्य व अजेय बनाया। खण्डन-मण्डन के क्षेत्र में छल आदि के प्रयोग को अमान्य करते हुए जैन न्यायविद्या ने सदैव अपनी मौलिक विशेषताओं को सुरक्षित रखा। जिस प्रकार एक पूर्ण अहिंसा साधक के चरण सानिध्य में सिंह व हिरण दोनों वैर भूलकर सौहार्द रखते हैं। वैसे ही स्याद्वाद शासन के आलोक में भी दर्शन सौहार्द भाव से रह सकते हैं। इस तथ्य को जैन न्याय विद्या ने प्रत्येक दर्शन को हृदयंगम कराने का प्रयास किया है। इस प्रकार जैन परम्परा में न्यायविद्या न्यायसंगत होकर प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर होती है।

2.5 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—तर्क की परिभाषा दीजिए ?

प्रश्न 2—दर्शन और तर्क में अन्तर बताइए ?

प्रश्न 3—तर्क का उपयोग किन प्रयोजनों के लिए किया जाता है ?

प्रश्न 4—तर्क के पक्ष में जैनाचार्यों के कोई चार प्रमुख संदर्भ दीजिए ?

प्रश्न 5—आचार्य श्री समन्तभद्र के अनुसार विभिन्न दर्शनों में समन्वयता का सूत्र क्या है ?

पाठ-3 — न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

3.1 जीव के दुःखों का मूल कारण एक ही है—अज्ञान, मिथ्याज्ञान, अतः दुःखनिवृत्ति का भी मूल कारण एक ही है—ज्ञान, सम्यग्ज्ञान।

तथा यह सम्यग्ज्ञान न्याय के द्वारा ही संभव है, अन्यथा नहीं। अतः न्याय का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वैसे तो हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही न्यायविद्या का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता रहा है और जीवन के हर क्षेत्र में उसकी महती उपयोगिता स्वीकार की गई है, जैसा कि महाकवि कौटिल्य ने लिखा है—

“प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।”

अर्थ—आन्वीक्षिकी विद्या (न्यायविद्या) शाश्वत काल से ही सर्व विद्याओं का प्रदीप, सर्वकर्मों का उपाय और सर्वधर्मों का आश्रय मानी गयी है।

परन्तु यहाँ हम उतने विस्तार में नहीं जाना चाहते हैं। बस, इतना ही जोर देकर निवेदन करना चाहते हैं कि हमें रुचि लेकर न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा तत्त्व का समीचीन ज्ञान होता है और फिर उस समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा ही दुःखनिवृत्तिरूप मूल प्रयोजन सिद्ध होता है। अन्य कोई विधि नहीं है।

3.2 न्याय विद्या का महत्त्व—

न्यायविद्या के लिए शास्त्रों में अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं। यथा—परीक्षा, अन्वीक्षा, आन्वीक्षिकी, युक्ति, समीक्षा, तर्कविद्या, वादविद्या, हेतुविद्या, हेतुवाद, हेतुमार्ग, न्याय, नीति, औचित्य, विवेक, विचार, चिन्तन, परख इत्यादि। ये सभी तत्त्वान्वेषण में न्याय के विशेष महत्त्व को ही प्रकट करते हैं, अतः न्याय का ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए।

किन्तु कुछ लोग मोक्षार्थी होकर भी, समीचीन तत्त्वजिज्ञासु होकर भी अनेक बहाने बनाकर न्याय के ज्ञान से बचने का प्रयत्न करते हैं, जो ठीक नहीं है। यहाँ उन्हीं के मन की शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। यथा—

शंका—कुछ लोग कहते हैं कि न्यायशास्त्र का ज्ञान तो शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन के लिए आवश्यक है। उसका आत्महित या तत्त्वज्ञान से कोई संबंध नहीं।

समाधान—ऐसी धारणा सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि न्यायशास्त्र का असली उद्देश्य समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्महित ही है, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन नहीं।

जो लोग न्यायशास्त्र का उद्देश्य शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या स्वमतमण्डन और परमतखण्डन मात्र समझते हैं, वे वस्तुतः न्याय की परिभाषा ही नहीं जानते। न्यायशास्त्र के धुरंधरविद्वान् आचार्य अकलंकदेव ने तो ऐसे लोगों को ‘गुणद्वेषी’ और ‘न्यायशास्त्र के मलिनकर्ता’ तक कहा है। यथा—

“बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै-
र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायोगुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः।।”

अर्थ—अहो, आत्महिताभिलाषी जीवों के पूर्वोपार्जित महापाप कर्म के उदय से, अविद्या-अंधकार के माहात्म्य से और स्वयं कलियुग के प्रभाव से वर्तमान में गुणद्वेषी लोगों ने न्याय को मलिन कर दिया है। तथापि धन्य हैं वे

अनुकम्पा-परायण आचार्य जो आज भी उसे किसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी जल से प्रक्षालित करते हुए आगे लिए चले जा रहे हैं।

आचार्य अकलंक के उक्त कथन में उनके हृदय की अपार वेदना और साथ ही करुणा भी प्रकट हो रही है, जिस पर हमें गंभीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए।

वस्तुतः यह महान दुःख का विषय है कि जो न्याय तत्त्वज्ञान का आवश्यक उपाय है, अनिवार्य साधन है, उसे लोगों ने वाद-विवाद एवं जय-पराजय का हेतु बना दिया है और तन्निमित्त छल-निग्रहादि का भी उपदेश दे दिया है। कषाय मिटाने के साधन को कषाय बढ़ाने का साधन बना दिया है।

यह सब देखकर हमारा भी हृदय बहुत दुःखी होता है, पर किया क्या जा सकता है, सिवाय इसके कि आचार्य अकलंकदेव की भांति हम भी अपनी क्षमतानुसार इसे सम्यग्ज्ञान-जल से प्रक्षालित करते हुए आगे ले चलें। कुछ पात्र जीवों का तो कल्याण होगा ही।

3.3 वाद-विवाद और परीक्षा (न्याय विद्या) में अन्तर-

वास्तव में वाद-विवाद और परीक्षा-ये दोनों पृथक्-पृथक् दो चीजें हैं और दोनों में महान् अन्तर है। जिस प्रकार स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता में बड़ा अन्तर है, ईर्ष्या और स्पर्धा में बड़ा अन्तर है, उसी प्रकार वाद-विवाद और परीक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। वाद-विवाद अनेक दोषों का दुर्गन्धित भण्डार है और परीक्षा अनेक गुणों का अनमोल खजाना। आचार्यों ने वाद-विवाद को विष कहा है तो परीक्षा को अमृत।

वाद-विवाद हमें मोह-राग-द्वेष में उलझाता है, जबकि न्याय हमें मोह-राग-द्वेष से ऊपर उठाकर वस्तु के सत्य स्वरूप का दर्शन कराता है।

यह जीव अनादिकाल से मोह-राग-द्वेष के वशीभूत होकर वस्तु के सत्य स्वरूप को उसी प्रकार नहीं देख पाता, जिस प्रकार कोई उन्मत्त पुरुष, परन्तु यह न्यायविद्या का ही परम उपकार है कि वह हमें मोह-राग-द्वेष से युक्त होने पर भी उनसे ऊपर उठकर वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने की कला सिखाती है।

वाद-विवाद करने वाले का लक्ष्य येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन ही होता है, पर न्यायप्रिय व्यक्ति का लक्ष्य असत्य का निराकरण करके सत्य का अनुसंधान कर लेना होता है। सूत्ररूप में कह सकते हैं कि वाद-विवाद करने वाले का सिद्धान्त होता है-मेरा सो खरा, जबकि न्यायप्रेमी का सिद्धान्त होता है-खरा सो मेरा।

वाद-विवाद करने वाले की दृष्टि सदा जय-पराजय पर ही होती है, जय-पराजय पर भी नहीं, अपनी जय और दूसरे की पराजय पर ही होती है, जबकि न्यायप्रेमी व्यक्ति की दृष्टि सदा सत्यानुसंधान में लगी रहती है, उसे जय-पराजय से प्रयोजन नहीं होता, सत्यप्राप्ति को ही वह अपनी सबसे बड़ी विजय मानता है।

वाद-विवाद कलहप्रिय लोगों को अच्छा लगता है, जबकि न्याय को शान्तिप्रिय और सत्यान्वेषी लोग पसंद करते हैं। जिनको न्याय अप्रिय लगता हो, अरुचिकर लगता हो, वे अवश्य आत्मनिरीक्षण करें। 'क्षत्रचूड़ामणि' में कहा है कि न्याय उन्हें अच्छा नहीं लगता जिनका मन ईर्ष्यादूषित है—

‘न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषित चेतसे।’

वाद-विवाद जितना हेय है, परीक्षा उतनी ही उपादेय है, अतएव प्राचीन काल से ही प्रायः सभी ऋषि-मुनियों ने वाद-विवाद को अत्यन्त हेय और परीक्षा को अत्यन्त उपादेय कहा है। मात्र कुछ ही लोगों ने परवर्ती काल में अज्ञान या कषाय के वशीभूत होकर वाद-विवाद और परीक्षा में अन्तर न करके न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है, जिससे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

3.4 वाद-विवाद का निषेध-

वाद-विवाद का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

“गाणाजीवा गाणाकम्मं गाणाविहं हवे लब्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।”

अर्थ—नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, अतः स्वसमय-परसमयों के साथ वचन-विवाद नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार आदि शंकराचार्य भी स्पष्ट लिखते हैं—

‘बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्।’

आचार्य अमितगति ने वाद-विवाद करने को कुतर्क करना कहा है और उसके अनेक दोष गिनाये हैं। यथा—

“बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिध्यानशत्रुरनेकधा।।
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिकाक्षिणाम्।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौधप्रवेशके।।”

अर्थ—कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शान्ति का विनाशक, श्रद्धा को भंग करने वाला और अभिमान को बढ़ाने वाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु सिद्ध होता है, अतः मोक्षाभिलाषियों को कुतर्क में अपना मन नहीं लगाना चाहिए।

इस प्रकार प्रायः सभी विद्वानों ने वाद-विवाद या कुतर्क को अत्यन्त हानिकारक एवं हेय कहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि तर्क, न्याय या परीक्षा भी हेय है और हमें उससे भी दूर ही रहना चाहिए। हमारे सभी पूर्वाचार्यों ने जहाँ एक ओर कुतर्क या वाद-विवाद को अत्यन्त निन्दनीय और हेय कहा है, वहीं दूसरी ओर तर्क, न्याय या परीक्षा को अत्यन्त आदरणीय और उपादेय भी कहा है।

3.5 परीक्षा की उपादेयता-

‘धर्म परीक्षा’ नामक ग्रंथ में आचार्य अमितगति ने परीक्षा की पुनः-पुनः प्रशंसा करते हुए अत्यन्त उपादेय कहा है। यथा—

“न बुद्धिगर्वेण न पक्षपाततो मयान्यशास्त्रार्थविवेचनं कृतम्।
ममैव धर्म शिवसौख्यदायिके परीक्षितुं केवलमुत्थितः भ्रमः।।”

अर्थ—मैंने यहाँ अन्य शास्त्रों के अर्थ का विवेचन (निराकरण) बुद्धि के अभिमानवश या किसी पक्षपातवश नहीं किया है, अपितु मेरा ही धर्म शिवसुखदायक है—इसकी परीक्षा करके लोगों का भ्रम दूर किया है।

अपने ‘श्रावकाचार’ में भी वे परीक्षा का महत्व बताते हुए लिखते हैं—

“लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वचनभीतचित्ताः।।”

अर्थ—विचारवान पुरुष तो सर्वसमर्थ लक्ष्मी प्रदान कराने वाले धर्म को ठगाये जाने के भय से स्वर्ण की भांति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक आचार्यों ने परीक्षा की पुनः पुनः प्रशंसा करते हुए उसे अत्यन्त उपादेय कहा है। आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि—

“जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अट्ठं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।।”

अर्थ—जो जीव प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा अर्थ की परीक्षा नहीं करता है, उसे अयुक्त भी युक्त और युक्त भी अयुक्त की तरह प्रतिभासित होता है।

इसी प्रकार का भाव आचार्य वीरसेन ने भी 'धवला' में प्रकट किया है।

आचार्य सोमदेव सूरि 'यशस्तिलकचम्पू' में लिखते हैं कि वस्तुस्वरूप को समझने के लिए शपथ की नहीं, परीक्षा की आवश्यकता है—

‘एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः।।
दाहच्छेदकषा शुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया।
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया।।’

अर्थ—पक्ष और शपथ-दोनों ही तत्त्वबोध के लिए व्यर्थ हैं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष परप्रत्ययमात्र से तत्त्व का विश्वास नहीं करते। दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध हुए स्वर्ण में शपथ क्या करेगी? तथा दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध न हुए स्वर्ण में भी शपथ क्या करेगी?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अपने 'लोकतत्त्वनिर्णय' आदि ग्रंथों में सुन्दर ढंग से परीक्षा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। 'लोकतत्त्वनिर्णय' में वे लिखते हैं—

“पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।”

अर्थ—मुझे महावीर से कोई पक्षपात नहीं है और कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है, परन्तु जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी का ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी परीक्षा को महत्त्व देते हुए लिखा है—

“न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः।।
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।।”

अर्थ—हे वीर प्रभु! मुझे केवल श्रद्धामात्र से आपके प्रति पक्षपात नहीं है और द्वेषमात्र से दूसरे देवों में अरुचि नहीं है, परन्तु मैंने आप्तत्व की यथावत् परीक्षा करके ही आपका ही आश्रय ग्रहण किया है। किसी भी मत या सम्प्रदाय में हो, कैसा भी हो, किसी भी नाम से जाना जाता हो, परन्तु यदि वह सर्व दोष-कालुष्य से रहित हो गया हो तो हे भगवन्! वह तुम ही हो और तुम्हें ही मेरा नमस्कार हो।

न केवल जैनाचार्यों ने, इतर विद्वानों ने भी परीक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया। महाकवि कालिदास का निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें परीक्षाप्रधानी व्यक्ति को ही ज्ञानी (सन्त) और परीक्षारहित अन्धविश्वासी को मूढ़ कहा है—

“पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।”

अर्थ—सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार व्यक्ति दोनों की परीक्षा करके उनमें से जो समीचीन हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ व्यक्ति ही दूसरे के कथन मात्र से विश्वास करता है। एक स्मृति-ग्रंथ में भी युक्तियुक्त वचनों को ही ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है—

‘युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यम्।’

महात्मा गौतम बुद्ध का भी एक कथन प्रसिद्ध है कि—

“तापाच्छेदान्निषात् ग्राह्य सुवर्णमिव पण्डिताः।

परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्रचो न तु गौरवात्।।”

अर्थ—हे विद्वान् भिक्षुओं! जिस प्रकार स्वर्ण को भलीभांति तपाकर, काटकर और कसौटी पर कसकर ही ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार तुम भी मेरे वचनों को परीक्षा करके ही ग्रहण करना, न कि गौरव से।

इस प्रकार ये सभी कथन परीक्षा के महत्व को प्रकट करते हैं, अतः हमें परीक्षा या न्याय का ज्ञान एवं आश्रय अवश्य करना चाहिए। किसी भी बहाने से उससे बचने का आत्मघाती प्रयत्न करना ठीक नहीं। वाद-विवाद ही हेय है, परीक्षा नहीं। परीक्षा तो अत्यन्त उपादेय है।

शंका—कुछ लोग कहते हैं कि सत्य-असत्य की परीक्षा करना तो बहुत कठिन कार्य है, लगभग असंभव सा ही है। लोक में असत्य की अधिकता भी इतनी है कि उसमें से सत्य को पहचान लेना और पा लेना तो सोचना भी कठिन लगता है।

समाधान—ऐसे लोग उत्साहहीन हैं। परीक्षा करना कठिन अवश्य है, पर असंभव कतई नहीं। यदि व्यक्ति स्वार्थ, आग्रह या पक्षपात से ऊपर उठकर एकदम निष्पक्ष होकर सच्ची विधि से परीक्षा करे तो सच्ची परीक्षा सहज हो सकती है, कठिन नहीं है। प्रमादी और आग्रही व्यक्ति ही परीक्षा नहीं कर पाता। आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी लिखते हैं—“सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करे वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।

अतः परीक्षा के प्रति उत्साहहीन रहना ठीक नहीं। लोक में असत्य की अधिकता है—यह भी चिंता का विषय नहीं। किसी भी प्रश्न के असत्य उत्तर अधिक ही होते हैं, सत्य उत्तर तो एक ही होता है। अध्ययनशील विद्यार्थी उनसे घबराते नहीं हैं। ‘नकली माल बाजार में बहुत है अतः असली भी मत खरीदो’ यह कोई समाधान नहीं है। इसी प्रकार हीरे की परख कठिन ही होती है, परन्तु हीरे का व्यापारी ‘कौन परीक्षा के चक्कर में पड़े’, ऐसा कभी नहीं सोचता, उद्यम करके परीक्षा करता ही है और उससे उसे असली-नकली की पहचान भी होती ही है। जरा कल्पना कीजिए—यदि हीरे का व्यापारी कठिन होने के कारण हीरों की परीक्षा करना छोड़ दे या उसमें शिथिलता करे तो क्या होगा ?

3.6 समीचीन तत्त्वज्ञान भी न्याय के द्वारा ही संभव-

अतः उत्साहपूर्वक परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। उसी में समीचीन तत्त्वज्ञान का महान लाभ होगा।

शंका—कुछ लोग कहते हैं कि दुःखनिवृत्ति के लिए तो तत्त्वज्ञान आवश्यक है, न्यायज्ञान नहीं, अतः हम तो केवल तत्त्वज्ञान ही करेंगे, न्यायज्ञान नहीं। न्याय ज्ञान तो अनावश्यक है।

समाधान—ऐसे लोग भी अज्ञानी हैं। यद्यपि यह सत्य है कि दुःखनिवृत्ति के लिये तत्त्वज्ञान आवश्यक है, परन्तु जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वह तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही समीचीनतः हो सकता है, उसके बिना कथमपि नहीं।

जिस प्रकार व्यापार तो वस्तुओं के क्रय-विक्रय से ही होता है, परन्तु वस्तुओं का क्रय-विक्रय तराजू आदि पैमानों के बिना ठीक-ठीक नहीं हो सकता, अतः व्यापारी को तराजू आदि पैमानों का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए, उसी प्रकार दुःखनिवृत्ति तो तत्त्वज्ञान से ही होती है, परन्तु वह तत्त्वज्ञान न्याय के बिना समीचीनतया नहीं हो सकता, अतः दुःखनिवृत्ति के अभिलाषी को न्याय का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए।

शंका—न्यायशास्त्र के अध्ययन से बचने के लिए कुछ लोग कहते हैं कि जीवन छोटा है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हम न्याय पढ़ने के चक्कर में नहीं उलझना चाहते। शास्त्रों में भी कहा है—

“अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि।”

अर्थ—शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम भी दुर्बुद्धि हैं, अतः केवल वही सीखना चाहिए, जो जन्म-जरा-मरण का क्षय करे।

समाधान—ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। क्योंकि न्याय का ज्ञान तो इसीलिए आवश्यक बताया गया है कि कम समय में हम अल्पबुद्धि वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कर सकें। वस्तुस्वरूप अत्यन्त जटिल है, अनन्तधर्मात्मक है, उसे यूँ ही नहीं समझा जा सकता। न्याय एक ऐसी सुलभ विधि है कि हम अल्पबुद्धि भी उसके द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को अल्प समय में समीचीनतया समझ सकते हैं।

न्याय के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप को समझना सरल होता है, कठिन नहीं। जिस प्रकार लोक में मीटर, तराजू आदि पैमाने सुलभ रीति से पदार्थों को ठीक-ठीक नापने-मापने का काम करने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं, उसी प्रकार न्याय भी सुलभ रीति से वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक समझने में हमारी बड़ी सहायता करता है। अतः इसका ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए। न्याय उलझाता नहीं है, सुलझाता है। उलझाता तो वाद-विवाद है, अज्ञान है।

शास्त्रों में जो ऐसा कहा है कि शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हमें वही सीखना चाहिए जिससे जन्म-मरण का क्षय हो, उसका अभिप्राय यह है कि लोक में अनेक विद्याएँ हैं, सबके अगणित शास्त्र हैं, हम उन सबको सीखने का प्रयत्न कहाँ तक करेंगे ? तब तक हमारा यह अल्प जीवन तो यूँ ही चला जायेगा और हम जन्म-मरण-रोग-विनाशक समीचीन तत्त्वज्ञान से वंचित रह जायेंगे, अतः दुनिया की अनेक अप्रयोजनभूत विद्याओं को सीखने में दुर्लभ समय और अल्पबुद्धि को मत लगाओ और तत्त्वज्ञान हेतु प्रयोजनभूत विषय पर ही ध्यान दो। कहा भी है—

“गणिकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रमर्मज्ञाः।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभाः न हि तत्त्ववेत्तारः।।”

अर्थ—गणित, चिकित्सा, तर्क, पुराण, वास्तु, शब्द और संगीत के शास्त्रों में निपुण लोग तो आसानी से मिल जाते हैं, परन्तु तत्त्व के ज्ञाता पुरुष मिलना बहुत कठिन है।

और भी कहा है कि—

“बहत्तरकलाकुसला पण्डिय पुरिसा अपण्डिया चेव।
सव्वकलाण वि पवरं जे धम्मकलं ण जाणंति।।”

अर्थ—जो पुरुष बहत्तर कलाओं में कुशल हैं, सभी कलाओं के प्रवर पण्डित हैं, परन्तु धर्मकला को नहीं जानते हैं, वे वास्तव में अपण्डित ही हैं।

अतः शास्त्रों का उपर्युक्त कथन अप्रयोजनभूत लौकिक विद्याओं के संबंध में ही समझना चाहिए। न्याय जगत् की उन अप्रयोजनभूत विद्याओं में से नहीं है अपितु मुक्तिमार्ग हेतु एक अत्यन्त प्रयोजनभूत आध्यात्मिक विद्या है। आचार्य सोमदेव ने भी इसे अध्यात्म विषय की प्रयोजनभूत विद्या कहा है। न्याय के बिना वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है, अतः समीचीन तत्त्वज्ञान को न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

शंका—कुछ लोग कहते हैं कि न्याय तो परवर्ती काल में आचार्य अकलंक आदि ने विकसित किया है। अधिक से अधिक कहें तो आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी को न्याय का जनक कह सकते हैं। उससे पहले न्याय कहाँ था, जबकि लोग तो तत्त्वज्ञान करते ही थे। अतः तत्त्वज्ञान हेतु न्याय का ज्ञान करना आवश्यक नहीं है।

समाधान—ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। आचार्य अकलंक, आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी से पहले भी न्याय अवश्य विद्यमान था, भले ही उस समय के न्यायग्रंथ हमें आज उपलब्ध न होते हों। ग्रंथ उपलब्ध न होने के तो अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है नष्ट हो गये हों अथवा यह तो आपको पता ही होगा कि पहले सारी श्रुत परम्परा मौखिक रूप में ही चल रही थी और शास्त्रलेखन का कार्य बहुत बाद में प्रारंभ हुआ है।

तथा यदि उक्त आचार्यों से पहले न्याय नहीं होता तो वेदों में नयों का उल्लेख कैसे मिलता है ? यथा—

“आ नो गोत्रा दद्विहि गोपते गाः समस्मभ्यं सु नयो यंतु वाजाः।

दिवक्षा असि वृषभ सत्यशुष्मोऽस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदाः॥”

अर्थ—हे पृथ्वी के पालक देव (वृषभदेव)! हमें सुनय-सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ! तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमान मघवन्! हमें सुबोधि प्रदान कर।

आचार्य जिनसेन ने भी भगवान ऋषभदेव को न्यायशास्त्र का प्रणेता कहा है—“**प्रणेता न्यायशास्त्रकृत**”

अतः वास्तविक स्थिति तो यही है कि न्यायविद्या अनादिनिधन है और इसी के द्वारा जीव समीचीन तत्त्वज्ञान करते आये हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन स्पष्ट लिखते हैं—

“**प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।**

सर्वसंव्यवहर्तृणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता॥”

अर्थ—यह प्रमाण आदि की व्यवस्था अनादिनिधन है और इसका व्यवहार करने वाले सभी लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ उसे हमने पुनः कहा है।

शंका—कुछ लोग कहते हैं कि न्यायग्रंथ तो कठिन बहुत हैं, अतः हम उन्हें समझ नहीं सकते।

समाधान—ऐसे लोग भी उत्साहहीन हैं। यद्यपि यह सच है कि न्यायग्रंथ गूढ़-गंभीर होते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे बहुत कठिन होते हैं और हम उन्हें समझ नहीं सकते। यदि थोड़ी रुचि लेकर एकाग्रता के साथ पहले कुछ प्राथमिक न्याय ग्रंथों को पढ़ लिया जाये तो प्रायः सभी न्यायग्रंथों को समझना बहुत सरल हो जाता है। जिन्हें न्याय की प्रारंभिक जानकारी न हो और जो रुचिपूर्वक अध्ययन नहीं करना चाहते हों उन्हें ही न्यायग्रंथ कठिन लगते हैं। अन्यथा उनमें कठिन लगने जैसा कुछ भी नहीं है।

न्यायग्रंथ गूढ़-गंभीर इसलिए होते हैं कि उनमें कोई दुनिया के राग-रंग की बातें या कोई किस्से, कहानी नहीं होती, अपितु अत्यन्त जटिल वस्तुस्वरूप का अत्यन्त सावधानीपूर्वक विश्लेषण और परीक्षण होता है। उसमें जरा सी भी शिथिलता से अर्थ का अनर्थ हो जाने की संभावना रहती है। लोक में कोयला, कण, कंचन और कोहिनूर को तौलने में ही उत्तरोत्तर अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है, तब यहाँ तो अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समीचीनतया समझने का महान् कार्य सिद्ध करना है, अतः न्याय-ग्रंथों का गूढ़ गंभीर होना स्वाभाविक है, परन्तु इस कारण से वे बहुत कठिन हैं और हम उन्हें नहीं समझ सकते-ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए और उनके अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

तथा यहाँ तो हम न्याय के सामान्य ज्ञान की बात कर रहे हैं, जो बिल्कुल कठिन नहीं है और वस्तुस्वरूप के परिज्ञान हेतु अनिवार्यतः उपयोगी भी है, अतः उसके अध्ययन में प्रमाद करना उचित नहीं। जो लोग अपनी किसी प्रकार की अक्षमतावश न्याय के अनेक गूढ़ ग्रंथों का अध्ययन नहीं कर सकते हैं, उन्हें भी न्याय का सामान्य ज्ञान तो अवश्य करना ही करना चाहिए। उसके बिना सिद्धि नहीं है।

शंका—यहाँ आपने विविध प्रकार से न्यायशास्त्र के अभ्यास की प्रेरणा दी, परन्तु क्या किसी भी अपेक्षा से शास्त्रों में न्याय के अवलम्बन का निषेध नहीं किया गया है ?

समाधान—हाँ, तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है। स्पष्ट कहा है कि—

“तच्चाणेसणकाले समयं बुद्धोहि जुत्तिमग्गेण।

णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।।”

अर्थ—समय (आत्मा/सिद्धान्त/मत) को तत्त्वान्वेषण के समय युक्तिमार्ग (न्याय) से समझो, किन्तु उसकी आराधना (अनुभूति) के समय न्याय का अवलम्बन मत लो, क्योंकि अनुभूति तो प्रत्यक्ष (निर्विकल्प) होती है।

यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है, क्योंकि अनुभूति तो निर्विकल्प होती है, जबकि न्याय विकल्परूप है।

किन्तु इस बहाने से भी न्यायशास्त्र के अभ्यास से बचने की चेष्टा करना बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्यायमार्ग के अवलम्बन का निषेध किया गया है—यह एकदम सच है, परन्तु यहीं प्रथम पंक्ति में जोर देकर यह भी तो कहा गया है कि तत्त्वान्वेषण के समय न्यायमार्ग का अवलम्बन लो।

तत्त्व की अनुभूति से पूर्व तत्त्व का अन्वेषण अनिवार्य है। यदि तत्त्व का अन्वेषण ही नहीं हुआ तो अनुभूति किसकी करोगे ? अतः सर्वप्रथम न्याय का ज्ञान करके तत्त्व का अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।

3.7 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—न्याय शास्त्र का अध्ययन क्यों आवश्यक है ?

प्रश्न 2—न्याय विद्या के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 3—वाद-विवाद और परीक्षा में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 4—जैन न्याय विद्या कब से प्रारंभ हुई ? इसके प्रणेता किनको बताया गया ?

इकाई-2

जैन न्याय शास्त्र

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों को प्रस्तुत किया गया है—

- (1) जैन तार्किक और उनके न्यायग्रंथ
- (2) जैन न्याय की कतिपय प्रमुख कृतियाँ
- (3) जैन न्याय के कतिपय प्रमुख पारिभाषिक शब्द
- (4) अनेक प्रकार के प्रसिद्ध न्याय

पाठ-1 — जैन तार्किक और उनके न्यायग्रंथ

यहाँ हम जैन तार्किकों और उनके द्वारा रचे गये न्यायग्रन्थों का संक्षेप में परिचय देंगे, जिससे यह मालूम हो सकेगा कि वैदिक और बौद्ध तर्कग्रन्थकारों की तरह जैन तर्कग्रन्थकार भी न्यायग्रन्थों के रचने में पीछे नहीं रहे और उन्होंने भी भारत-भारती का भण्डार समृद्ध किया है।

1.1 आचार्य गुद्धपिच्छ—

आचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्द ने इनका इसी नाम से उल्लेख किया है। 10वीं-11वीं शताब्दी के शिलालेखों तथा इस समय में अथवा उत्तरकाल में रचे गये साहित्य में इनके 'उमास्वामी' और 'उमास्वाति' ये दो नाम भी प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी है। ये सिद्धान्त, दर्शन और न्याय तीनों विषयों के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनका रचा एकमात्र सूत्रग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' है, जिस पर पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक एवं भाष्य, विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक एवं भाष्य और श्रुतसागरसूरि ने तत्त्वार्थवृत्ति ये चार विशाल टीकाएँ लिखी हैं। श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थभाष्य और सिद्धसेन गणी की तत्त्वार्थव्याख्या ये दो टीकायें भी रची गयी हैं। उत्तरवादी आचार्यों ने इसका बड़ा महत्त्व घोषित करते हुए लिखा भी है कि जो इस दश अध्यायों वाले तत्त्वार्थसूत्र का एक बार भी पाठ करता है उसे एक उपवास का फल प्राप्त होता है।¹ यह सिद्धान्त और दर्शन के साथ न्याय का भी ग्रन्थ है।² इसका जैन परम्परा में वही महत्त्व है, जो गीता, कुरान, बाइबिल को क्रमशः हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई परम्परा में माना जाता है।

1.2 स्वामी समन्तभद्र—

ये आचार्य गुद्धपिच्छ के बाद आचार्य कुन्दकुन्द के समान प्रभावशाली और जैन दार्शनिकों में अग्रणी तार्किक हुए हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इनका अपने ग्रन्थों में जो गुणगान किया है वह अभूतपूर्व है। इन्हें वीरशासन का प्रभावक और सम्प्रसारक कहा है। इनका अस्तित्व ईसा की दूसरी-तीसरी शती में माना जाता है। स्याद्वाददर्शन और स्याद्वादन्याय के ये आद्य प्रभावक हैं। जैनन्याय का सर्वप्रथम आद्य विकास इन्होंने अपनी कृतियों और शास्त्रार्थों द्वारा प्रस्तुत किया है। इनकी निम्न कृतियाँ प्रसिद्ध हैं- 1. आप्तमीमांसा (देवागम) 2. युक्त्यनुशासन 3. स्वयम्भूस्तोत्र 4. रत्नकरण्ड श्रावकाचार और 5. जिनशतक। इनमें आरम्भ की तीन रचनाएँ दार्शनिक एवं तार्किक हैं, चौथी सैद्धान्तिक और पाँचवीं काव्य है। इनकी कुछ रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। पर उनके उल्लेख और प्रसिद्धि है। उदाहरणार्थ इनका 'गन्धहस्ति-महाभाष्य' बहुचर्चित है। जीवसिद्धि, प्रमाणपदार्थ, तत्त्वानुशासन और कर्मप्राभृत टीका के उल्लेख ग्रन्थान्तरों में मिलते हैं। श्रद्धेय पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने इन ग्रन्थों का 'स्वामी समन्तभद्र' में शोधपूर्ण परिचय दिया है।

1.3 सिद्धसेन—

आचार्य सिद्धसेन तार्किक हुए हैं। इन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ मानती हैं। इनका समय वि.सं. चौथी-पाँचवीं शती माना जाता है। इनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'सन्मति' अथवा 'सन्मतिसूत्र' है। इसमें सभी सांख्य, योग आदि के वादों की चर्चा और उनका समन्वय बड़े तर्कपूर्ण ढंग से किया गया है। इसमें इन्होंने ज्ञान व दर्शन के युगपद्वाद और क्रमवाद के स्थान में अभेदवाद की युक्तिपूर्वक सिद्धि की है, यह उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थांत में मिथ्यादर्शनों (एकान्तवादों) के समूह को 'अमृतसार', 'भगवान' 'जिनवचन' जैसे विशेषणों के साथ उल्लिखित करके उसे 'भद्र' सबका कल्याणकारी कहा है। ध्यान रहे कि उन्होंने सापेक्ष एकान्तों के समूह को भद्र कहा है, निरपेक्ष एकान्तों के समूह को नहीं, क्योंकि जैनदर्शन में निरपेक्षता को मिथ्या और सापेक्षता को सम्यक् कहा गया है तथा सापेक्षता ही वस्तु का स्वरूप है और वह ही अर्थक्रियाकारी है। आचार्य समन्तभद्र ने भी आप्तमीमांसा (का. 108) में यही प्रतिपादन किया है।

1.4 देवनन्दि पूज्यपाद—

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद विक्रम सम्वत् की छठी और ईसा की पाँचवीं शती के बहुश्रुत विद्वान हैं। ये तार्किक, वैयाकरण, कवि और स्तुतिकार हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी विशद व्याख्या 'सर्वार्थसिद्धि' में इनकी दार्शनिकता और तार्किकता अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है। इनका एक न्यायग्रन्थ "सार संग्रह" है, जिसका उल्लेख आचार्य वीरसेन ने किया है और उसमें किये गये नय-लक्षण को 'धवला' टीका में उद्धृत किया है। जैनन्द्रव्याकरण, समाधिशतक, इष्टोपदेश, निर्वाणभक्ति आदि अनेक रचनाएँ इन्होंने लिखी हैं।

1.5 श्रीदत्त—

ये छठी शताब्दी के वादि-विजेता, प्रभावशाली तार्किक हैं। आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ.280) में इन्हें 'त्रिषष्टेवार्दिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये।' तिरेसठ वादियों का विजेता और 'जल्पनिर्णय' ग्रन्थ का कर्ता बतलाया। 'जल्पनिर्णय' एक शास्त्रार्थ ग्रन्थ है, जिसमें दो प्रकार के जल्पों (वादों) का विवेचन किया। परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। विद्यानन्दि को सम्भवतः प्राप्त था और उनके अनुसार इन्होंने इसमें दो प्रकार के वादों (तात्त्विक एवं प्रातिभ) का प्रतिपादन किया है।

1.6 पात्रस्वामी—

ये विक्रम की छठी-सातवीं शती के जैन नैयायिक हैं। इनका एक मात्र ग्रन्थ 'त्रिलक्षणकदर्शन' प्रसिद्ध है। पर यह अनुपलब्ध है। चूहों, दीमकों या व्यक्तियों द्वारा यह कब समाप्त कर दिया गया, कहा नहीं जा सकता? अकलंक, अनन्तवीर्य, वादिराज आदि उत्तरवर्ती जैन तार्किकों ने इसका उल्लेख किया है। बौद्ध तार्किक तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित (ई. 8वीं शती) ने तो इनके नामोल्लेख और बिना नामोल्लेख के साथ इनकी अनेक कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं और उनका खण्डन किया है। सम्भव है ये कारिकाएँ उनके उसी 'त्रिलक्षणकदर्शन' ग्रन्थ की हों।

1.7 अकलंकदेव—

आचार्य अकलंकदेव ईसा की सातवीं-आठवीं शती के तीक्ष्णबुद्धि एवं महान प्रभावशाली तार्किक हैं। ये जैन न्याय के प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। जैनधर्म के अनेकान्त, स्याद्वाद, आदि सिद्धान्तों पर जब तीक्ष्णता से बौद्ध और वैदिक विद्वानों द्वारा दोहरा प्रहार किया जा रहा था तब सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकदेव ने उन प्रहारों को अपने वादविद्या-कवच से

निरस्त करके अनेकांत, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि सिद्धान्तों को सुरक्षित किया था तथा विरोधियों को सबल जबाब दिया था। इन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और जैन न्याय पर बड़े जटिल एवं दुरूह ग्रन्थों की रचना की है। इनके वे न्यायग्रन्थ निम्न हैं—1. न्यायविनिश्चय, 2. सिद्धिविनिश्चय, 3. प्रमाण संग्रह, 4. लघीयस्त्रय, 5. देवागम विवृति (अष्टशती) 6. तत्त्वार्थवार्तिक व उसका भाष्य आदि। इनमें तत्त्वार्थवार्तिक व भाष्य तत्त्वार्थसूत्र की विशाल, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें अकलंकदेव ने सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य का अनुसरण करते हुए सिद्धान्त, दर्शन और न्याय तीनों का विशद विवेचन किया है। विद्यानन्दि ने सम्भवतः इसी कारण—‘सिद्धेर्वात्रा कलंकस्य महतो न्यायवेदिनः’ (त.श्लो.पृ. 277) वचनों द्वारा अकलंक को ‘महान्यायवेत्ता’- जस्टिस (न्यायाधीश) कहा है।

1.8 हरिभद्र—

आचार्य हरिभद्र विक्रम की आठवीं शती के विश्रुत दार्शनिक एवं नैयायिक हैं। इन्होंने 1.अनेकान्तजयपताका, 2. अनेकान्तवादप्रवेश, 3.शास्त्रवार्तासमुच्चय, 4. षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थ रचे हैं। यद्यपि इनका कोई न्याय का स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु इनके इन दर्शनग्रन्थों में न्याय की भी चर्चा हमें स्पष्ट मिलती है। उनका षड्दर्शनसमुच्चय तो ऐसा दर्शनग्रन्थ है, जिसमें भारतीय प्राचीन छहों दर्शनों का विवेचन सरल और विशद रूप में किया गया है तथा जैनदर्शन को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। इसके द्वारा जैनेतर विद्वानों को जैनदर्शन का सही आकलन हो जाता है।

1.9 सिद्धसेन (द्वितीय)—

इनका समय नौवीं शती माना जाता है। इन्होंने न्यायशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ ‘न्यायावतार’ लिखा है, जिसमें जैन दृष्टि से न्यायविद्या का 32 कारिकाओं में सांगोपांग निरूपण किया है। इनकी रची कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ भी हैं जिनमें तीर्थंकरों की स्तुति के साथ जैनदर्शन और जैनन्याय का दिग्दर्शन किया गया है।

1.10 वादीभसिंह—

इनके इस नाम से ही ज्ञात होता है कि ये वादीरूपी हाथियों को पराजित करने के लिए सिंह के समान थे। इनकी स्याद्वाद पर लिखी महत्त्वपूर्ण कृति ‘स्याद्वादसिद्धि’ है। इसमें स्याद्वाद पर प्रतिवादियों द्वारा दिये गये दूषणों का परिहार करके उसकी युक्तियों से प्रतिष्ठा की है। इनका समय विक्रम की नौवीं शती है। इनके रचे क्षत्रचूडामणि (पद्य) और गद्यचिन्तामणि (गद्य) ये दो काव्यग्रन्थ भी हैं, जिनमें तीर्थंकर महावीर के समकालीन मोक्षगामी क्षत्रियमुकुट जीवन्धरकुमार का पावन चरित्र निबद्ध है।

1.11 बृहदनन्तवीर्य—

ये विक्रम संवत् नौवीं शती के प्रतिभासम्पन्न तार्किक हैं। इन्होंने अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह पर विशाल व्याख्याएँ लिखी हैं। सिद्धिविनिश्चय पर लिखी ‘सिद्धिविनिश्चयालंकार’ व्याख्या उपलब्ध है, परन्तु प्रमाणसंग्रह पर लिखा ‘प्रमाणसंग्रहभाष्य’ अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चयालंकार में अनेक स्थलों पर विशेष जानने के लिए किया है। इससे इसका अधिक महत्त्व जान पड़ता है। अन्वेषकों को इसका पता लगाना चाहिए। इन अनन्तवीर्य ने अकलंक के पदों का जिस कुशलता और बुद्धिमत्ता में मर्म खोला है उसे देखकर आचार्य वादिराज (ई.1025) और प्रभाचन्द्र (ई.1043) कहते हैं कि यदि अनन्तवीर्य अकलंक के दुरूह एवं जटिल पदों का मर्मोद्घाटन न करते तो उनका अर्थ समझने में हम असमर्थ रहते। उनके द्वारा किये गये व्याख्यानों के आधार से ही हम (प्रभाचन्द्र और वादिराज) क्रमशः लघीयस्त्रय की व्याख्या (लघीयस्त्रयालंकार-न्यायकुमुदचन्द्र) और न्यायविनिश्चय

की टीका (न्यायविनिश्चयालंकार अथवा न्यायविनिश्चयविवरण) लिख सके हैं।

1.12 विद्यानन्दि—

आचार्य विद्यानन्द उन सारस्वतों में गणनीय हैं, जिन्होंने एक से एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इनका समय ई. 775-840 है। इन्होंने अपने समग्र ग्रन्थ प्रायः दर्शन और न्याय पर ही लिखे हैं, जो अद्वितीय और बड़े महत्त्व के हैं। ये दो तरह के हैं—1. टीकात्मक और 2. स्वतंत्र। टीकात्मक ग्रन्थ निम्न हैं— 1. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य), 2. अष्टसहस्री (देवागमालंकार) और 3. युक्त्यनुशासनालंकार प्रथम टीका आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र पर पद्यवार्तिक और उसके विशाल गद्य-भाष्य के रूप में है। द्वितीय टीका आचार्य समन्तभद्र के देवागम (आत्माामीमांसा) पर गद्य में लिखी अष्टसहस्री है। ये दोनों टीकाएँ अत्यन्त दुरुह, क्लिष्ट और प्रमेयबहुल हैं, साथ ही गम्भीर और विस्तृत भी हैं। तीसरी टीका स्वामी समन्तभद्र के ही दूसरे तर्कग्रन्थ युक्त्यनुशासन पर रची गयी है। यह मध्यम परिणाम की है और विशद है।

इनकी स्वतन्त्र कृतियाँ निम्नप्रकार हैं—1. विद्यानन्दमहोदय, 2. आप्तपरीक्षा, 3. प्रमाण-परीक्षा, 4. पत्र परीक्षा, 5. सत्यशासन-परीक्षा और 6. श्रीपुरपाशर्वनाथस्तोत्र। इस तरह इनकी नौ कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें 'विद्यानन्द महोदय' को छोड़कर सभी उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। सत्यशासन परीक्षा अपूर्ण है, जिससे वह विद्यानन्द की अन्तिम अवस्था की रचना प्रतीत होती है। विद्यानन्द और उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व आदि पर विस्तृत ऊहापोहपूर्वक विमर्श आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना तथा 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र-परिशीलन' (पृ. 262-312) में किया गया है। वह द्रष्टव्य है।

1.13 कुमारनन्दि (कुमारनन्दि भट्टारक)—

ये अकलंकदेव के उत्तरवर्ती और आचार्य विद्यानन्द के पूर्ववर्ती अर्थात् आठवीं-नौवीं शताब्दी के विद्वान हैं। विद्यानन्द (775-840) ने इनका और इनके 'वादन्याय' का अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. 280). प्रमाणपरीक्षा⁴ (पृ.49) और पत्रपरीक्षा (पृ.5)⁵ नामोल्लेख किया है तथा 'वाद-न्याय' से कुछ कारिकाएँ उद्धृत की हैं। एक जगह (त.श्लो.पृ.280 में) तो विद्यानन्द ने इन्हें 'वादन्यायविचक्षण' भी कहा है। इससे इनका वादन्यायवैशारद्य प्रकट होता है। इनका 'वादन्याय' एक वाद-विषयक महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थ है, जो आज उपलब्ध नहीं है, जिसके केवल उल्लेख ही मिलते हैं। बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति (ई. 635) ने भी एक 'वादन्याय' रचा है और जो उपलब्ध है। आश्चर्य नहीं कि कुमारनन्दि को अपना 'वादन्याय' रचने की प्रेरणा उसी से मिली हो। यह सच है कि जैनों ने अपने वाङ्मय की रक्षा करने में घोर प्रमाद किया तथा उसकी उपेक्षा की है। आज भी यही स्थिति है।

1.14 अनन्तकीर्ति—

इनका समय वि.सं. नौवीं शती है। इन्होंने 'बृहत्सर्वज्ञसिद्धि' और 'लघुसर्वज्ञसिद्धि' ये दो तर्कग्रन्थ रचे हैं और दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों विद्वत्तापूर्ण रचनाओं से आचार्य अनन्तकीर्ति का पाण्डित्य एवं तर्कशैली अनुपमेय प्रतीत होती है। इनकी एक रचना 'स्वतः-प्रामाण्यभंग' भी है, जो अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्य (प्रथम) ने सिद्धिविनिश्चयालंकार में किया है।

1.15 माणिक्यनन्दि—

ये नन्दिसंघ के प्रमुख आचार्य हैं। इनके गुरु रामनन्दि, दादागुरु वृषभनन्दि और परदादागुरु पद्मनन्दि थे। इनके कई शिष्य हुए। आद्य विद्या शिष्य नयनन्दि थे, जिन्होंने 'सुदंसणचरित' एवं 'सयल-विहिविहाण' कृतियाँ लिखी हैं, इनमें नयनन्दि ने अपने को उनका आद्य विद्या शिष्य तथा उन्हें 'पंडितचूडामणि' एवं 'महापण्डित' कहा है। नयनन्दि वि. सं.

1900 (ई. 1043) में राजा भोज (धाराधीश) के समय में हुए, उन्होंने अपनी गुरु-शिष्य-परम्परा उक्त दोनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में दी है। इनके तथा अन्य प्रमाणों के अनुसार माणिक्यनन्दि का समय ई. 1028 सिद्ध है। प्रभाचन्द्र (1043) ने भी न्यायशास्त्र इन्हीं माणिक्यनन्दि से पढ़ा था तथा इनके 'परीक्षामुख' पर विशालकाय 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नाम की व्याख्या लिखी है, जिसके अन्त में उन्होंने भी माणिक्यनन्दि को अपना न्यायविद्यागुरु बताया है।

माणिक्यनन्दि की एकमात्र कृति 'परीक्षामुख' है, जो न्यायविद्या का प्रवेशद्वार है। खासकर अकलंकदेव के जटिल न्यायग्रन्थों में। तात्पर्य यह कि अकलंकदेव ने अपने न्यायविनिश्चयादि कारिकारूप न्यायग्रन्थों में जो दुरूह रूप में जैनन्याय को निबद्ध किया है उसे संक्षेप में गद्य सूत्रबद्ध करने का श्रेय इन्हीं आचार्य माणिक्यनन्दि को प्राप्त है। इन्होंने जैनन्याय को इसमें बड़ी सरल एवं विशद भाषा में उसी प्रकार ग्रथित किया है जिस प्रकार मालाकार माला में यथायोग्य स्थान पर प्रवाल रत्न आदि को गूँथता है। इस पर प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', लघुअनन्तवीर्य ने 'प्रमेयरत्नमाला', अजितसेन ने 'न्यायमणिदीपिका', चारुकीर्ति नाम के एक या दो विद्वानों ने 'अर्थप्रकाशिका' और 'प्रमेयरत्नालंकार' नाम की टीकाएँ लिखी हैं। इससे न्यायसूत्रग्रन्थ का महत्त्व प्रकट है।

1.16 देवसेन—

आचार्य देवसेन ने प्राकृत में नयचक्र लिखा है। संभव है इसी का उल्लेख आचार्य विद्यानन्दि ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवर्तिक (पृ.276) में किया हो और उससे ही नयों को विशेष जानने की सूचना की है। इनका समय विक्रम की नौवीं शती माना जाता है। देवसेन नयमर्मज्ञ विशिष्ट मनीषी थे।

1.17 वादिराज—

ये न्याय, व्याकरण, काव्य, भक्ति आदि साहित्य की अनेक विधाओं में पारंगत थे और 'स्याद्वादविद्यापति' कहे जाते थे। ये अपनी इस उपाधि से इतने अभिन्न थे कि इन्होंने स्वयं और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों ने इसी उपाधि से उल्लेख किया है। इन्होंने अपने 'पार्श्वनाथचरित्र' की समाप्ति का समय शक सं. 947, ई. 1025 दिया है। अतः इनका समय ई. 1025 है। पार्श्वचरित के अतिरिक्त इन्होंने न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय ये दो न्यायग्रन्थ लिखे हैं। न्यायविनिश्चय विवरण अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय की विशाल और महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। प्रमाणनिर्णय मौलिक तर्कग्रन्थ है। वादिराज वादि विजेता के अतिरिक्त बड़े अर्हद्भक्त भी थे। 'एकीभाव स्तोत्र' के अन्त में वे बड़े स्वाभिमान से कहते हैं कि जितने वैयाकरण हैं वे वादिराज के बाद हैं, जितने तार्किक हैं वे वादिराज के पीछे हैं तथा जितने काव्यकार हैं वे भी उनके पश्चाद्दूर्ति हैं और तो क्या, भक्तिक लोग भी भक्ति में उनकी बराबरी नहीं कर सकते। यथा—

वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।

वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥

1.18 प्रभाचन्द्र—

प्रभाचन्द्र जैन साहित्य में तर्कग्रन्थकार के रूप में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये आचार्य माणिक्यनन्दि के शिष्य और उन्हीं के परीक्षामुख पर विशालकाय एवं विस्तृत व्याख्या 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' लिखने वाले अद्वितीय मनीषी हैं। इन्होंने अकलंक के दुरूह 'लघीयस्त्रय' नाम के न्यायग्रन्थ पर भी बहुत ही विशद और विस्तृत टीका लिखी है, जिसका नाम 'न्यायकुमुदचन्द्र' है। न्यायकुमुदचन्द्र वस्तुतः जैनन्यायरूपी कुमुदों को विकसित करने वाला चन्द्र है। इसमें प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय की कारिकाओं, उनकी स्वोपज्ञवृत्ति और उसके दुरूह पद-वाक्यादि की विशद व्याख्या तो की ही है, किन्तु प्रसंगोपात्त विविध तार्किक चर्चाओं द्वारा अनेक अनुद्घाटित तथ्यों एवं विषयों पर भी नया प्रकाश डाला है। इसी प्रकार

इन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी अपनी तर्कपूर्ण प्रतिभा का पूरा उपयोग किया है और परीक्षामुख के प्रत्येक सूत्र व उसके पदों का विस्तृत एवं विशद व्याख्यान किया है। प्रभाचन्द्र के ये दोनों व्याख्या ग्रन्थ मूल जैसे ही हैं। इनके बाद इन व्याख्याओं जैसा कोई मौलिक या व्याख्याग्रन्थ नहीं लिखा गया। जैन न्यायाकाश में समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्र और विद्यानन्द के बाद प्रभाचन्द्र जैसा कोई अति प्रसिद्ध जैन तार्किक हुआ हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। इनका समय ई. 1043 है।

1.19 अभयदेव—

अभयदेव ने सिद्धसेन के 'सन्मतिसूत्र' पर 'सन्मतितर्कटीका' लिखी है। इसमें स्याद्वाद और अनेकान्त पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इनका समय ईसा की बारहवीं शती है। अभयदेव प्रभाचन्द्र से अधिक प्रभावित है। और इनकी इस टीका पर प्रभाचन्द्र की उक्त दोनों व्याख्याओं का अमित प्रभाव है।

1.20 लघु अनन्तवीर्य—

इन्होंने माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर ही मध्यम परिणाम की विशद एवं सरल वृत्ति लिखी है, जिसे -प्रमेयरत्नमाला' कहा जाता है। विद्यार्थियों और जैनन्याय के जिज्ञासुओं के लिए यह बड़ी उपयोगी एवं बोधप्रद है। इन्होंने 'परीक्षामुख' को अकलंक के दुरवगाह न्यायग्रन्थसमुच्चयरूप समुद्र का मन्थन करके निकाला गया 'न्याय- विद्यामृत' बतलाया है। वस्तुतः अनन्तवीर्य का यह कथन सर्वथा युक्त है। हमने स्वयं 'परीक्षामुख और उसका उद्गम' शीर्षक शोध लेख में अनुसन्धानपूर्वक निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि यथार्थ में परीक्षामुख अकलंक के न्यायग्रन्थों का दोहन है। विद्यानन्द के ग्रन्थों का भी उस पर प्रभाव रहा है। इनका समय वि.सं. की बारहवीं शती है।

1.21 देवसूरि—

देवसूरि 'वादि' उपाधि से विभूषित हैं। इनके प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' और उसकी व्याख्या 'स्याद्वादरत्नाकर' ये दो तर्कग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन दोनों पर आचार्य माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख का शब्दशः और अर्थशः पूरा प्रभाव है। इसके छह परिच्छेद तो परीक्षामुख की तरह ही हैं और अन्तिम दो नयपरिच्छेद तथा वादपरिच्छेद परीक्षामुख से ज्यादा हैं, जो परीक्षामुख (6/73,74) की सूचना पर आधारित हैं।

1.22 हेमचन्द्र—

ये न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त और योग—इन सभी विषयों के प्रखर विद्वान् थे। इनका न्याय-ग्रन्थ 'प्रमाण-मीमांसा' विशेष प्रसिद्ध है। इसके सूत्र और उनकी स्वोपज्ञ टीका दोनों ही सरल और बोधप्रद है। जैनन्याय के प्राथमिक अभ्यासी के लिए परीक्षामुख और न्यायदीपिका की तरह इसका भी अभ्यास उपयोगी है। ये वि.सं. 12वीं, 13वीं (ई. 1089-1173) शती के यशस्वी विद्वान् हुए हैं।

1.23 भावसेन त्रैविद्य—

ये वि.सं. बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के जैन नैयायिक हैं। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'विश्वतत्त्वप्रकाश' है। ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण और बोधप्रद है। इसका प्रकाशन जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर से हो चुका है।

1.24 लघु समन्तभद्र—

इनका समय वि. सं. तेरहवीं शती है। इन्होंने विद्यानन्द की अष्टसहस्री पर पदबोधिका टिप्पणी लिखी है, जो अष्टसहस्री के कठिन पदों के अर्थबोध में सहायक है। इसका नाम 'अष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका' है। यह स्वतन्त्र

रूप से अभी अप्रकाशित है। किन्तु अष्टसहस्री के पाद टिप्पणियों में इसकी टिप्पणियां प्रकाशित हैं, जिनके सहारे पाठक अष्टसहस्री के उन पदों का अर्थ कर लेते हैं जो क्लिष्ट और प्रसंगोपात्त हैं।

1.25 अभयचन्द्र—

ये वि.सं. तेरहवीं शती के तार्किक हैं। इन्होंने अकलंकदेव के तर्कग्रन्थ लघीयस्त्रय पर 'लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति' नामकी स्पष्टार्थबोधक लघुकाय वृत्ति लिखी है, जो माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है पर अब वह अलभ्य है। उसका एक अच्छा आधुनिक सम्पादन के साथ संस्करण निकलना चाहिए। इसकी तर्कपद्धति सुगम एवं आकर्षक है।

1.26 रत्नप्रभसूरि—

इनका समय वि.सं. की तेरहवीं शती है। इनकी एकमात्र तर्ककृति 'स्याद्वादरत्नाकरावतारिका' है, जो प्रकाशित है और स्याद्वाद पर अच्छा प्रकाश डालती है।

1.27 मल्लिषेण—

इन्होंने हेमचन्द्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' नाम की द्वात्रिंशतिका पर 'स्याद्वादमंजरी' व्याख्या लिखी है। यह विद्वत्प्रिय है। मल्लिषेण विक्रम की चौदहवीं शती के तार्किक हैं।

1.28 अभिनव धर्मभूषण—

अन्तिम जैन तार्किकों में ये अधिक लोकप्रिय और उल्लेखनीय हैं। इनकी 'न्यायदीपिका'⁶ एक ऐसी महत्त्वपूर्ण एवं यशस्वी न्याय कृति है जो न्यायशास्त्र में प्रवेश करने के लिए बहुत ही सुगम और सरल है। न्यायशास्त्र के प्राथमिक अभ्यासी इसी के माध्यम से अकलंक और विद्यानन्द के दुरूह एवं जटिल न्यायग्रन्थों में प्रवेश करते हैं। न्याय का ऐसा कोई विषय नहीं छूटा, जिसका न्यायदीपिका में धर्मभूषणयति ने संक्षेप में और सरल भाषा में प्रतिपादन न किया हो। प्रमाण, प्रमाण के भेदों, नय और नय के भेदों के अलावा अनेकान्त, सप्तभंगी, वीतरागकथा, विजिगीषुकथा, जैसे विषयों का भी इस छोटी सी कृति में समावेश कर उनका संक्षेप में विशद निरूपण किया गया है। अनुमान का विवेचन तो ग्रन्थ के बहुभाग में निबद्ध है और बड़े सरल ढंग से उसे दिया है। वास्तव में यह अभिनव धर्मभूषण की प्रतिभा, योग्यता और कुशलता की परिचायिका अनुपम कृति है। इनका समय ई. 1358 से 1418 है।

1.29 शान्तिवर्णी—

परीक्षामुख के प्रथम सूत्र पर इन्होंने 'प्रमेयकण्ठिका' नाम की वृत्ति लिखी है। यह न्याय विद्या की एक अति लघु रचना है। प्रमाण पर इसमें संक्षेप में प्रकाश डाला गया है यह अध्येतव्य है। यह वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट से प्रकाशित है।

1.30 नरेन्द्र सेन भट्टारक—

इनकी एकमात्र रचना 'प्रमाणप्रमेयकलिका' है।⁷ इसमें इन्होंने तत्त्व सामान्य की जिज्ञासा करते हुए उसके दो भेद— 1. प्रमाणतत्त्व और 2. प्रमेयतत्त्व बतलाकर उनका समीक्षापूर्वक विशद विवेचन किया है। कृति सुन्दर और सुगम है। ग्रन्थकार का समय वि.स. 1787 है।

1.31 चारूकीर्ति भट्टारक—

ये वि.सं. की अठारहवीं शती के जैन तार्किक हैं। इन्होंने माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर बहुत ही विशद एवं प्रौढ़

व्याख्या 'प्रमेयरत्नालंकार' लिखी है, जो मैसूर यूनिवर्सिटी से प्रकाशित है। रचना तर्कपूर्ण है। इसमें नव्यन्याय के भी अनेक स्थलों पर दर्शन होते हैं। चारुकीर्ति की विद्वता और पाण्डित्य दोनों इसमें समाविष्ट हैं। इन्हीं अथवा दूसरे चारुकीर्ति की 'अर्थप्रकाशिका' भी है, जो प्रमेयरत्नमाला की संक्षिप्त व्याख्या है। ये 'पण्डिताचार्य' की उपाधि से विभूषित थे।

1.32 विमलदास—

इनकी 'सप्तभंगीतरंगिणी' नाम की सुबोध तर्ककृति है, जिसमें सप्तभंगों का अच्छा विवेचन किया गया है। यह दर्शन और न्याय दोनों की प्रतिपादिका है। इनका समय वि. की अठारहवीं शती है।

1.33 अजितसेन—

ये वि.सं. की अठारहवीं शती के तार्किक हैं। इन्होंने 'परीक्षामुख' पर 'न्यायमणिदीपिका' नाम की व्याख्या लिखी है, जो परीक्षामुख की पांचवीं टीका है। इसका उल्लेख चारुकीर्ति ने 'प्रमेयरत्नालंकार' (पृ. 4.181) में किया है।

1.34 यशोविजय—

ये वि.सं. अठारहवीं शती के प्रौढ़ जैन तार्किक हैं। इन्होंने निम्न तर्कग्रन्थ रचे हैं— 1. अष्टसहस्री- तात्पर्यविवरण, 2. जैन तर्कभाषा, 3. न्यायालोक, 4. ज्ञानबिन्दु, 5. अनेकान्तव्यवस्था, 6. न्यायखण्डनखाद्य, 7. अनेकान्त प्रवेश, 8. शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका और 9. गुरुतत्त्व विनिश्चय।

चारुकीर्ति विमलदास और यशोविजय ये तीन अन्तिम तार्किक ऐसे हैं, जिन्होंने अपने न्याय ग्रंथों में नव्यन्याय को भी अपनाया है, जो नैयायिक गङ्गेश उपाध्याय से उद्धृत हुआ और पिछले तीन-चार दशक तक अध्ययन-अध्यापन में रहा।

1.35 बीसवीं शती के जैन तार्किक —

बीसवीं शती में भी कतिपय दार्शनिक एवं नैयायिक हुए हैं, जो उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित जैनदर्शन और जैनन्याय के ग्रन्थों का न केवल अध्ययन-अध्यापन किया है, अपितु उनका राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद एवं सम्पादन भी किया है। साथ में अनुसंधानपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएं भी लिखी हैं, जिनमें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के ऐतिहासिक परिचय के साथ ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषयों का भी तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक आकलन प्रस्तुत किया गया है। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी हिन्दी भाषा में लिखे गये हैं।

उदाहरण के लिए जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका शिरोमणि न्याय प्रभाकर श्री ज्ञानमती माताजी ने सन् 1969-70 में न्याय के सर्वोच्च ग्रंथ अष्टसहस्री का शब्दशः हिन्दी अनुवाद करके भगवान महावीर के शासन में अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया है। इसकी हिन्दी टीका का नाम है—“स्याद्वाद चिन्तामणि” इसमें हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ जगह-जगह विशेषार्थ एवं अनेकानेक क्लिष्ट विषयों के सारांश सरल भाषा में दिये हैं। तीन भागों में जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित इन ग्रंथों को अध्ययन करके न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य आदि की परीक्षाएं देकर उपाधियाँ प्राप्त करते हैं। 400 ग्रंथों की लेखिका इन ज्ञानमती माताजी को दो बार भारत के मान्य विश्वविद्यालयों के द्वारा डी. लिट् की मानद उपाधियों से अलंकृत किया जा चुका है। इसी प्रकार न्यायाचार्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी, न्यायाचार्य पं. माणिकचन्द्र कौन्देय, पं. सुखलाल संघवी, डॉ. पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, पं. दलसुख भाई मालवणिया आदि के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं। श्री ज्ञानमती माताजी एवं क्षु. गणेश प्रसाद वर्णी ने अनेक छात्रों को जैनदर्शन एवं न्याय में प्रशिक्षित किया है। श्री कौन्देय ने आ. विद्यानन्दि के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य का सात

खण्डों में हिन्दी रूपांतर किया है। श्री संघवी ने प्रमाण मीमांसा, ज्ञानबिन्दु, सन्मतितर्क, जैन तर्कभाषा आदि ग्रन्थों का वैदुष्यपूर्ण सम्पादन व उनकी प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। उनके भाषा टिप्पण, विभिन्न ग्रन्थों के तुलनात्मक उद्धरण और परिशिष्टों का संयोजन महत्त्वपूर्ण है। डॉ. पं. महेन्द्रकुमार ने न्यायविनिश्चयविवरण, सिद्धीविनिश्चयटीका, न्यायकुमुदचन्द्र (लघीस्त्रयालंकार), प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखालंकार), अकलंकग्रन्थत्रय, तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य, तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरकृत) आदि के विद्वत्तापूर्ण सम्पादन के साथ उनकी अनुसंधानपूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। हिन्दी भाषा में लिखा उनका 'जैन दर्शन' मौलिक कृति है। श्री मालवणिया ने कई ग्रन्थों का सम्पादन एवं उनकी शोधपूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। उनका 'आगमयुग का जैन दर्शन' मौलिक रचना है। पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री का 'जैनन्याय' उल्लेखनीय है।

1.36 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1 — स्वामी समन्तभद्र की प्रमुख कृतियों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2 — आचार्य अकलंकदेव का संक्षिप्त परिचय देते हुये उनके द्वारा रचित प्रमुख न्याय ग्रंथों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 3 — आचार्य विद्यानन्दि रचित टीकात्मक और स्वतन्त्र कृतियों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 4 — बीसवीं शती के प्रमुख जैन तार्किकों के योगदान का वर्णन कीजिए ?

पाठ-2—जैन न्याय की कतिपय प्रमुख कृतियाँ

2.1 न्याय-मंदिर में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्ति को न्याय की प्रमुख कृतियों की भी संक्षिप्त जानकारी अवश्य होनी चाहिए, ताकि वह यथाशक्ति उनके अध्ययन में प्रवृत्त हो सके। वैसे तो जैन न्याय की सैकड़ों कृतियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु यहाँ कतिपय प्रमुख कृतियों का ही संक्षिप्त परिचय लिखा जा रहा है। कृति के समक्ष कोष्ठक में उसके रचयिता और उनका समय दिया गया है।

2.2 प्रथम एवं द्वितीय शती की रचनाएँ—

(1) तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी, प्रथम शती)—यह ग्रंथ मूलतः न्याय का नहीं है, परन्तु इसमें न्याय के बीज भरे हैं, जो इसकी सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद, 5वीं शती), तत्त्वार्थवार्तिक (अकलंक, 7वीं शती), तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (विद्यानंदि, 8वीं शती) आदि टीकाओं और न्यायदीपिका (अभिनव धर्मभूषणयति, शती) आदि स्वतंत्र ग्रंथों में पल्लवित-पुष्पित हुए हैं। इसका 'प्रमाणनयैरधिगमः' (1/5) सूत्र इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है।

(2) आप्तमीमांसा (समन्तभद्र, द्वितीय शती)—इसमें 10 परिच्छेदों में विभक्त 114 कारिकाओं के माध्यम से आप्त के स्वरूप का निर्णय किया गया है। इसमें स्याद्वाद की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। इस पर अष्टशती (अकलंक, 7वीं शती) और अष्टसहस्री (विद्यानंदि, 8वीं शती) जैसी गंभीर टीकाएँ उपलब्ध हैं।

(3) स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्र, द्वितीय शती)—यद्यपि यह स्तुतिकाव्य है, परन्तु इसमें न्याय-पद्धति से दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल 143 पद्य हैं।

(4) युक्त्यानुशासन (समन्तभद्र, द्वितीय शती)—इसमें भी भगवान महावीर की स्तुति के माध्यम से विरुद्ध मतों का खंडन करते हुए समीचीन मत का प्रतिपादन किया गया है। इसमें 64 पद्य हैं।

(5) सन्मत्तिसूत्र (सिद्धसेन, द्वितीय शती)—इसमें 167 गाथाएँ या अग्रलिखित तीन काण्ड (अध्याय) हैं—नयकाण्ड, जीवकाण्ड और अनेकान्तकाण्ड। यह भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से प्रकाशित है।

2.3 सातवीं शती की प्रमुख कृतियाँ—

(6) सिद्धिविनिश्चय (अकलंक, 7वीं शती)—इसमें 12 प्रस्तावों (अध्यायों) में प्रमाण, नय और निक्षेप का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह अनन्तवीर्य आचार्य की टीका सहित भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है।

(7) न्यायविनिश्चय (अकलंक, 7वीं शती)—इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नामक तीन प्रस्तावों में कुल 480 कारिकाएँ हैं। वादिराज सूरि (11वीं) की टीका 'न्यायविनिश्चयविवरण' के साथ यह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है।

(8) प्रमाणसंग्रह (अकलंक, 7वीं शती)—इसमें 88 कारिकाओं के कुल 9 प्रस्ताव हैं, जिनमें प्रमाण, नय और निक्षेप का विशद विवेचन किया गया है। यह सिंधी ग्रंथमाला से प्रकाशित है।

(9) लघीयस्त्रय (अकलंक, 7वीं शती)—यह छोटे-छोटे 3 प्रकरणों का संग्रह है—1. प्रमाण-प्रवेश, 2. नय-प्रवेश और 3. निक्षेप-प्रवेश, जिनमें कुल 78 कारिकाएँ हैं। इस पर स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त आचार्य प्रभाचन्द्र (11वीं शती) की 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक प्रसिद्ध टीका भी उपलब्ध होती है।

2.4 आठवीं शती के प्रमुख न्यायग्रंथ—

(10) षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरि, 8वीं शती)—इसमें 6 अधिकारों की 87 कारिकाओं में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक, मीमांसक और चार्वाक दर्शनों का मूलभूत परिचय दिया गया है। यह गुणरत्नसूरि

(15वीं शती) की संस्कृत टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है।

(11) स्याद्वादसिद्धि (वादीभसिंह, 8वीं शती)—इसमें 16 प्रकरणों में विभाजित 670 कारिकाओं में स्याद्वाद का विशद विवेचन है। यह पं. दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रंथमाला मुम्बई से प्रकाशित है।

(12) आप्तपरीक्षा (विद्यानंदि, 8वीं शती)—इसमें 124 कारिकाएं 10 प्रकरणों में विभक्त हैं, जिनमें 'ईश्वर, कपिल, सुगम, परमपुरुष आदि आप्त नहीं हो सकते, अर्हन्त ही आप्त हो सकते हैं—इसे स्वोपज्ञवृत्ति सहित समझाया गया है। यह डॉ. दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और वीर सेवा मंदिर, दिल्ली से प्रकाशित है।

(13) प्रमाणपरीक्षा (विद्यानन्दि, 8वीं शती)—इसमें प्रमाण का लक्षण प्रमाण के प्रामाण्य की उत्पत्ति-ज्ञप्ति, प्रमाण के भेद-प्रभेद, विषय और फल का विस्तृत विवेचन है।

(14) सत्यशासनपरीक्षा (विद्यानन्दि, 8वीं शती)—इसमें पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट, प्रभाकर और तत्त्वोपप्लव शासन की परीक्षा करके अन्त में अनेकांत शासन की भी परीक्षा की है।

(15) नयविवरण (विद्यानन्दि, 8वीं शती)—यद्यपि इस नाम का कोई ग्रंथ विद्यानंदि ने नहीं लिखा है, परन्तु उनके 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' के नय-संबंधी विवेचन को इस नाम से जाना जाता है। इसमें 116 कारिकाएँ हैं, जो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'नयचक्र' के परिशिष्ट में दी गयी हैं।

2.5 नवमी से ग्यारहवीं शती तक की कृतियाँ—

(16) न्यायावतार (सिद्धसेन द्वितीय, 9वीं शती)—इसमें 32 कारिकाओं में प्रमाण और नय का विशद विवेचन है। इस पर सिद्धर्षि गणी की संस्कृत टीका भी उपलब्ध होती है। यह श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास से प्रकाशित है।

(17) आलाप-पद्धति (देवसेन, 10वीं शती)—यह एक अत्यन्त लघुकाय परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है जो संस्कृत-गद्य में रचित है। इसमें सारगर्भित 16 अधिकार हैं—द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण, नय, गुण-व्युत्पत्ति, पर्याय-व्युत्पत्ति, स्वभाव-व्युत्पत्ति, एकान्तदोष, नययोजना, प्रमाणकथन, नयलक्षण, निक्षेप, नयों के भेद और अध्यात्मनय। यह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'नयचक्र' के परिशिष्ट में उपलब्ध है।

(18) परीक्षामुखसूत्र (माणिक्यनंदि, 11वीं शती)—यह जैनन्याय का प्रथम सूत्र ग्रंथ है और जैनन्याय में प्रवेश हेतु उपयोगी जानकर प्रायः सर्वत्र पाठ्यक्रमों में निर्धारित है। इसमें 6 परिच्छेद और 212 सूत्र हैं जिनमें प्रमाण और प्रमाणाभास का विशद विवेचन किया गया है। इस पर प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र, 11वीं शती), प्रमेयरत्नमाला (लघु अनन्तवीर्य, 12वीं शती), प्रमेयरत्नालंकार (भट्टारक चारुकीर्ति, 18वीं शती), न्यायमणिदीपिका (अजितसेन, 18वीं शती), अर्थ प्रकाशिका (विजयचन्द्र) और प्रमेयकण्ठिका (शान्तिवर्णी) नामक संस्कृत-टीकाएँ उपलब्ध हैं और हिन्दी में भी अनेक वचनिकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गयी हैं। 'परीक्षामुख' का अर्थ है—न्याय का प्रवेशद्वार। यह कृति न्याय में प्रवेश हेतु सर्वोत्तम मानी जाती है।

(19) प्रमाणनिर्णय (वादिराजसूरि, 11वीं शती)—यह संस्कृत-गद्य में रचित और 3 मुख्य अध्यायों में विभाजित है—प्रमाणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय और परोक्षनिर्णय। परोक्षनिर्णय के पुनः दो भाग हैं—अनुमाननिर्णय और आगमनिर्णय। यह डॉ. सूरजमुखी जैन द्वारा सम्पादित और अनेकांत ज्ञानमंदिर बीना से प्रकाशित है।

2.6 बारहवीं से अठारहवीं शती में लिखे गये न्याय ग्रंथ—

(20) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र (माइल्लधवल, 12वीं शती)—यह 425 गाथाओं में निबद्ध प्राकृत

का सुन्दर ग्रंथ है, जिसमें नय का विस्तारपूर्वक विवेचन उपलब्ध होता है। पं. कैलाशचंद्र शास्त्री द्वारा सम्पादित यह ग्रंथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। नयचक्र नाम के दो अन्य ग्रंथ मल्लवादी (6वीं शती) और देवसेन (10वीं शती) द्वारा रचित भी उपलब्ध होते हैं।

(21) प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्रसूरि, 12वीं शती)—यह सूत्र-शैली में रचित और स्वोपज्ञवृत्ति सहित है, परन्तु अपूर्ण है। इसमें दो ही अध्याय उपलब्ध होते हैं। प्रथम अध्याय में दो आह्निक हैं और द्वितीय अध्याय में प्रथम आह्निक भी अपूर्ण ही है। अपूर्ण होते हुए भी इसमें प्रमाण संबंधी विवेचन लगभग पूर्ण हो गया है। यह सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथी खाना, रतनपोल, अहमदाबाद से प्रकाशित है।

(22) स्याद्वादमंजरी (मल्लिषेण, 14वीं शती)—यह आचार्य हेमचन्द्रसूरि (12वीं शती) की कृति 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' की विस्तृत टीका है। इसमें भगवान् महावीर की स्तुति के माध्यम से स्याद्वाद सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन किया गया है।

(23) न्यायदीपिका (अभिनव धर्मभूषण यति, 15वीं शती)—यह जैन-न्याय में प्रवेश करने हेतु सबसे प्रारंभिक पुस्तक मानी जाती है और इसीलिए प्रायः सर्वत्र पाठ्यक्रम में भी निर्धारित है। यह अत्यन्त सरल-सुबोध संस्कृत-गद्य में रचित है और इसमें तीन प्रकाश हैं—प्रमाणसामान्यप्रकाश, प्रत्यक्षप्रकाश और परोक्षप्रकाश। यह डॉ. दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और वीरसेवा मंदिर द्वारा प्रकाशित है।

(24) सप्तभंगीतरंगिणी (विमलदास, 18वीं शती)—यह संस्कृत-गद्य में रचित महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें सप्तभंगों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। यह श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास से प्रकाशित है।

2.7 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—परीक्षामुख सूत्र ग्रंथ के बारे में संक्षिप्त विवरण दीजिए ?

प्रश्न 2—न्याय दीपिका ग्रंथ की विषय वस्तु का संक्षेप में विवेचन कीजिए ?

प्रश्न 3—आलाप पद्धति के रचयिता कौन थे। इसमें प्रमुख कितने अधिकार हैं ?

प्रश्न 4—जैन न्याय की अन्य पाँच कृतियों का उल्लेख कीजिए ?

पाठ-3—जैन न्याय के कतिपय प्रमुख पारिभाषिक शब्द

3.1 हर विषय की अपनी पारिभाषिक शब्दावली होती है। जैन न्याय की भी है। अतः यदि जैन दर्शन के न्याय-ग्रंथों के अध्ययन से पूर्व इस पारिभाषिक शब्दावली को पढ़-समझ लिया जाये तो बहुत लाभ हो सकता है।

न्याय—जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो, उसे न्याय कहते हैं।

उद्देश्य—जिस वस्तु का विवेचन करना हो उसका नाम मात्र कथन करना ही उद्देश्य है।

लक्षण निर्देश—निर्दोष लक्षण को बतलाने का नाम लक्षण निर्देश है।

अव्याप्ति—लक्ष्य के एकदेश में ही पाये जाने को अव्याप्ति कहते हैं।

अतिव्याप्ति—लक्ष्य और लक्ष्य के बाहर अलाक्ष्य में भी पाये जाने का नाम अतिव्याप्ति है।

असम्भव—लक्ष्य में सर्वथा न पाये जाने का नाम असंभव है।

लक्षण—परस्पर मिली-जुली अनेक वस्तुओं में से एक अभीष्ट वस्तु को अलग कर देने वाले हेतु (चिन्ह विशेष) को लक्षण कहते हैं।

परीक्षा—परस्पर विरुद्ध अनेक युक्तियों की प्रबलता एवं दुर्बलता का निर्धारण करने के लिए सावधानीपूर्वक जो विचार किया जाता है, उसे परीक्षा कहते हैं।

प्रमाण—जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व को एकदम सही रूप में जाना जाता है, पहचाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।

समारोप—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का सामूहिक नाम समारोप है।

संशय—विरुद्ध अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है।

विपर्यय—विपरीत एक कोटि को स्पर्श करने वाला ज्ञान विपर्यय है।

अनध्यवसाय—‘कुछ है’—इस प्रकार के अनिश्चयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण—विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष—जो ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से होता है, उसे लोकव्यवहार में प्रत्यक्षरूप से प्रसिद्ध होने के कारण सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष—सर्वतः निर्मल ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

विकल प्रत्यक्ष—जो कुछ ही पदार्थों को विषय करता है, वह विकल प्रत्यक्ष है।

सूक्ष्म—जो स्वभाव से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। जैसे—परमाणु आदि।

अन्तरित—जो काल से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें अन्तरित कहते हैं। जैसे—सुमेरु पर्वत आदि।

परोक्ष प्रमाण—अविशद (अस्पष्ट, अनिर्मल) ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृति—जो ज्ञान पूर्वानुभूत वस्तु को ‘वह’ इस रूप से विषय बनाता है, उसे स्मृति कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञान—जो ज्ञान प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के संकलन (जोड़) रूप होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति—साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव को बतलाने वाले सुनिश्चित संबंध को ही व्याप्ति कहते हैं। जैसे—धुएँ की अग्नि के साथ व्याप्ति है।

अविनाभाव—अविनाभाव का अर्थ है—साध्य के बिना साधन का न होना।

अनुमान—साधन (या हेतु) से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है।

हेतु (साधन)—जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) हो, उसे साधन कहते हैं।

साध्य—साध्य शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध होता है। इन्हें क्रमशः अबाधित, इष्ट और अप्रसिद्ध भी कहते हैं।

प्रमेय—जो प्रमाण के द्वारा जाना जाये, उसे प्रमेय कहते हैं।

अन्वय—जहाँ साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जावे, वह अन्वय दृष्टान्त है।

व्यतिरेक—जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जावे, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

आप्त—जो वीतराग (मोह-राग-द्वेष आदि दोषों से रहित), सर्वज्ञ और परम हितोपदेशक हो, वही आप्त है।

आगम—आप्त के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान आगम है।

प्रमाणाभास—जो प्रमाण नहीं है, पर प्रमाण जैसा प्रतीत होता है। अथवा प्रमाण माना जाता है, उसे प्रमाणाभास कहते हैं।

अनुमानाभास—जो अनुमान नहीं, पर अनुमान जैसा प्रतीत होता है अथवा अनुमान माना जाता है, वह अनुमानाभास है।

हेत्वाभास—जो हेतु नहीं है, पर हेतु जैसा प्रतीत होता है, उसे हेत्वाभास कहते हैं।

नय—प्रमाण द्वारा परिगृहीत वस्तु के एक देश (अंश, भाग, गुण, धर्म, पक्ष, आयाम) को जानना या कहना नय है।

निक्षेप—वस्तु को किस रूप से जाना जाये, उसे निक्षेप कहते हैं। निक्षेप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु चार प्रकार की है—नामरूप, स्थापनारूप, द्रव्यरूप और भावरूप।

नयाभास—जो नय नहीं है, पर नय जैसा प्रतीत होता है, उसे नयाभास कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नय प्रमाणपरिगृहीत वस्तु के एक देश को ग्रहण करता है अतः वस्तु के एक पक्ष का कथन करते हुए भी उसके अपर पक्ष का निराकरण नहीं करता, मात्र उसे गौण करता है, परन्तु नयाभास उस अपर पक्ष का निराकरण या अभाव ही कर देता है। नय और नयाभास में यही मूल अन्तर है।

3.2 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण लिखो।

प्रश्न 2—परीक्षा किसे कहते हैं ?

प्रश्न 3—नय और नयाभास में अन्तर बताइए ?

प्रश्न 4—अनुमानाभास किसे कहते हैं ?

पाठ-4 — अनेक प्रकार के प्रसिद्ध न्याय

4.1 न्याय का अर्थ लोक में रूढ़ या प्रसिद्ध नीतिवाक्य भी होता है। ये नीतिवाक्य दृष्टान्त की तरह विषय को बोधगम्य बनाते हैं। ये अनेकानेक होते हैं, परन्तु इनमें से कतिपय प्रमुख इस प्रकार हैं—

1. **अंधचटकन्याय**—इसके अर्थ का हिन्दी मुहावरा भी बहुत प्रसिद्ध है—अन्धे के हाथ बटेर लगना। यह 'घुणाक्षर न्याय' के समान है।

2. **अंधपरंपरान्याय**—इसका अर्थ है अंधानुकरण। इसका प्रयोग तब होता है जब लोग बिना विचारे दूसरों का अन्धानुकरण करते हैं और यह नहीं जानते कि इस प्रकार का अनुकरण उन्हें अंधकार में फँसा देगा।

3. **अशोकवनिकान्याय**—अशोक वृक्षों के उद्यान का न्याय रावण ने सीता को अशोक वाटिका में रखा था, परन्तु उसने और स्थानों को छोड़कर इसी वाटिका में क्यों रखा—इसका कोई विशेष कारण नहीं बताया जा सकता। सारांश यह हुआ कि जब मनुष्य के पास किसी कार्य को सम्पन्न करने के अनेक साधन प्राप्त हों, तो यह उसकी अपनी इच्छा है कि वह चाहे किसी साधन को अपना ले। ऐसी अवस्था में किसी भी साधन को अपनाने का कोई विशेष कारण नहीं दिया जा सकता।

4. **अश्मलोष्ट न्याय**—पत्थर और मिट्टी के लौंदे का न्याय। मिट्टी का ढेला रुई की अपेक्षा कठोर है परन्तु वही कठोरता मृदुता में बदल जाती है जब हम उसकी तुलना पत्थर से करते हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा जाता है जब उसकी तुलना उसकी अपेक्षा निचले दर्जे के व्यक्तियों से की जाती है, परन्तु यदि उसकी अपेक्षा श्रेष्ठतर व्यक्तियों से तुलना की जाय तो वही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नगण्य बन जाता है। 'पाषाणेष्टकन्याय' भी इसी प्रकार प्रयुक्त किया जाता है।

5. **कदंबकोरक (गोलक) न्याय**—कदंब वृक्ष की कली की न्याय—कदंब वृक्ष की कलियाँ साथ ही खिल जाती है, अतः जहाँ उदय के साथ ही कार्य भी होने लगे, वहाँ इस न्याय का उपयोग करते हैं।

6. **काकतालीय न्याय**—कौवे और ताड़ के फल का न्याय। एक कौवा एक वृक्ष की शाखा पर जाकर बैठा ही था कि अचानक ऊपर से एक फल गिरा और कौवे के प्राण—पखेरु उड़ गये, अतः जब कभी कोई घटना शुभ हो या अशुभ, अप्रत्याशित रूप से अकस्मात् घटती है, तब इसका उपयोग होता है।

7. **काकदंतगवेषण न्याय**—कौवे के दाँत ढूँढना। यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है, जब कोई व्यक्ति व्यर्थ अलाभकारी या असंभव कार्य करता है।

8. **काकाक्षि गोलक न्याय**—कौवे की आँख के गोलक का न्याय। एक दृष्टि, एकाक्ष आदि शब्दों से यह कल्पना की जाती है कि कौवे की आँख तो एक ही होती है, परन्तु वह आवश्यकता के अनुसार उसे एक गोलक से दूसरे गोलक में ले जा सकता है। इस न्याय का उपयोग उस समय होता है जब वाक्य में किसी शब्द या पदोच्चय का जो केवल एक ही बार प्रयुक्त हुआ है, आवश्यकता होने पर दूसरे स्थान पर भी अध्याहार कर लें।

9. **कूपयंत्रघटिका न्याय**—रहँट टिंडर न्याय। इसका उपयोग सांसारिक अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करने के लिए किया जाता है। जैसे रहँट के चलते समय कुछ टिंडर तो पानी से भरे हुए ऊपर को जाते हैं, कुछ खाली हो रहे हैं, और कुछ बिल्कुल खाली होकर नीचे को जा रहे हैं।

10. **घट्टुकुटाप्रभातन्याय**—चुंगी घर के निकट पौ फटी का न्याय। कहते हैं कि एक गाड़ीवान चुंगी देना नहीं चाहता था, अतः वह ऊबड़—खाबड़ रास्ते से रात को ही चल दिया परन्तु दुर्भाग्यवश रात भर इधर—उधर घूमता रहा, जब पौ फटी तो देखता क्या है कि वह ठीक चुंगीघर के पास ही खड़ा है, विवश हो उसे चुंगी देनी पड़ी, इसलिए जब कोई किसी कार्य को जानबूझ कर टालना चाहता है, परन्तु अन्त में उसी को करने के लिए विवश होना पड़ता है तो उस समय

इस न्याय का प्रयोग होता है।

11. **घुणाक्षर न्याय**—लकड़ी में घुणकीटों द्वारा निर्मित अक्षर का न्याय। किसी लकड़ी में घुन लग जाने अथवा किसी पुस्तक में दीमक लग जाने से कुछ अक्षरों की आकृति से मिलते-जुलते चिह्न आपने आप बन जाते हैं, अतः जब कोई कार्य अनायास व अकस्मात् हो जाता है तब इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।

12. **दण्डाक्षर न्याय**—डंडे और पूड़े का न्याय। डंडा और पूड़ा एक ही स्थान पर रखे गये थे। एक व्यक्ति ने कहा कि डंडे को तो चूहे घसीट कर ले गये और खा गये, तो दूसरा व्यक्ति स्वभावतः यह समझ लेता है कि पूड़ा तो खा ही लिया गया होगा, क्योंकि वह उसके पास ही रखा था। इसलिए जब कोई वस्तु दूसरी के साथ विशेष रूप से अत्यन्त संबद्ध होती है और एक वस्तु के संबंध में हम कुछ कहते हैं तो वही बात दूसरी वस्तु के साथ भी अपने आप लागू हो जाती है।

13. **देहलीदीपन्याय**—देहली पर स्थापित दीपक का न्याय। जब दीपक को देहली पर रख दिया जाता है तो इसका प्रकाश देहली के दोनों ओर होता है, अतः यह न्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है जब एक ही वस्तु दो स्थानों पर काम आवे।

14. **नृपनापितपुत्र न्याय**—राजा और नाई के पुत्र का न्याय। कहते हैं कि एक नाई किसी राजा के यहाँ नौकर था। एक बार राजा ने उसे कहा कि मेरे राज्य में जो लड़का सबसे सुन्दर हो उसे लाओ। नाई बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकता रहा परन्तु उसे ऐसा कोई बालक नहीं मिला जैसा राजा चाहता था। अन्त में थककर और निराश होकर वह घर लौटा। उसे अपना काला कलूटा लड़का ही अत्यन्त सुन्दर लगा वह उसी को लेकर राजा के पास गया। पहले तो उस काले-कलूटे बालक को देख कर राजा को बड़ा क्रोध आया परन्तु यह विचार कर कि मानव मात्र अपनी वस्तु को ही सर्वोत्तम समझता है, उसे छोड़ दिया। **सर्वः कांतमात्मीयं पश्यति।** हिन्दी में भी कहते हैं—अपनी छाछ को कौन खट्टा बताता है।

15. **पंकप्रक्षालन न्याय**—कीचड़ धोकर उतारने का न्याय। कीचड़ लगने पर उसे धो डालने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि मनुष्य कीचड़ लगने ही न देवे। इसी प्रकार भयग्रस्त स्थिति में फँस कर उससे निकलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा है कि उस भयग्रस्त स्थिति में कदम ही न रखें। **‘प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्’** हिन्दी में भी कहते हैं—सौ दवा से एक परहेज अच्छा।

16. **पिष्टपेषण न्याय**—पिसे हुए को पीसना। यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है जब कोई किये हुए कार्य को ही दुबारा करने लगता है, क्योंकि पिसे को पीसना व्यर्थ कार्य है—**कृतस्य करणं वृथा।**

17. **बीजांकुर न्याय**—बीज और अंकुर का न्याय। कार्य—कारण जहाँ अन्योन्याश्रित होते हैं वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है। बीज से अंकुर निकला और फिर अंकुर से ही बीज की उत्पत्ति हुई, अतः न बीज के बिना अंकुर हो सकता है और न अंकुर के बिना बीज।

18. **लोहचुम्बक न्याय**—लोहे और चुंबक का आकर्षण न्याय। यह प्रकृतिसिद्ध बात है कि लोहा चुंबक की ओर आकृष्ट होता है, इसी प्रकार प्राकृतिक घनिष्ठ संबंध या निसर्गवृत्ति की बदौलत सभी वस्तुएँ एक दूसरे की ओर आकृष्ट होती हैं।

19. **वह्निधूम न्याय**—धुएं से अग्नि का अनुमान। धुएं और अग्नि की अवश्यंभावी सहवर्तिता नैसर्गिक है, अतः जहाँ धुंआ होगा वहाँ आग अवश्य होगी। यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है जहाँ दो पदार्थों में कारण—कार्य या दो व्यक्तियों का अनिवार्य संबंध बताया जाय।

20. **वृद्धकुमारीवाक्य (वर) न्याय**—बूढ़ी कुमारी को वरदान का न्याय। इस प्रकार का वरदान माँगना जिसमें वह सभी बातें आ जाय तो एक व्यक्ति चाहता है। महाभाष्य में कथा आती है कि एक बुढ़िया कुमारी को इन्द्र ने कहा कि एक ही वाक्य में जो वरदान चाहो माँगो, तब बुढ़िया बोली—**पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांचनपायां भुंजीरन्** अर्थात् मेरे पुत्र सोने की थाली में घी—दूध—युक्त दूध—भात खायें। इस एक ही वरदान में बुढ़िया ने पति, धन—धान्य, पशु, सोना—चाँदी सब कुछ माँग लिया। अतः जहाँ एक ही प्राप्ति से सब कुछ प्राप्त हो वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

21. **शाखाचंद्र न्याय**—शाखा पर वर्तमान चन्द्रमा का न्याय। जब किसी को चन्द्रमा का दर्शन कराते हैं तो चन्द्रमा के दूर स्थित होने पर हम यही कहते हैं, देखो सामने वृक्ष की शाखा के ऊपर चाँद दिखाई देता है। अतः यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है जब कोई वस्तु दूर होकर भी निकटवर्ती किसी पदार्थ से संसक्त होती है।

22. **सिंहावलोकन न्याय**—सिंह का पीछे मुड़ कर देखना। यह उस समय प्रयुक्त होता है जब कोई व्यक्ति आगे चलने के साथ—साथ अपने पूर्वकृत कार्य पर भी दृष्टि डालता रहता है। जिस प्रकार सिंह शिकार की तलाश में आगे भी बढ़ता जाता है, परन्तु साथ ही पीछे मुड़कर भी देखता रहता है।

23. **सूचीकटाह न्याय**—सूई और कड़ाही का न्याय। यह उस समय प्रयुक्त किया जाता है, जब दो बातें एक कठिन और एक अपेक्षाकृत आसान करने को हों, तो उस समय आसान कार्य को पहले किया जाता है, जैसे कि जब किसी व्यक्ति को सुई और कड़ाही दो वस्तुएँ बनानी हैं तो वह सुई को पहले बनावेगा, क्योंकि कड़ाही की अपेक्षा सुई को बनाना आसान या अल्पश्रमसाध्य है।

24. **स्थूणनिखनन न्याय**—गड्ढा खोदकर उसमें थूणी जमाना। जब किसी मनुष्य को कोई थूणी अपने घर में लगानी होती है तो मिट्टी कंकड़ आदि बार—बार डाल कर और कूटकर वह उस थूणी को दृढ़ बनाता है, इसी प्रकार वादी भी अपने अभियोग की पुष्टि में नाना प्रकार के तर्क और दृष्टान्त उपस्थित करके अपनी बात का और भी अधिक समर्थन करता है।

25. **स्वामिभृत्य न्याय**—स्वामी और सेवक का न्याय। इसका प्रयोग उस समय किया जाता है जब पालक और पाल्य, पोषक और पोष्य के सम्बन्ध को बतलाना होता है या ऐसे ही किन्हीं दो पदार्थों का संबंध बतलाया जाता है।

4.2 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—अश्म लोष्ट न्याय को समझाइये ?

प्रश्न 2—काकतालीय न्याय किसे कहते हैं ?

प्रश्न 3—वृद्ध कुमारी वाक्य (वर) न्याय के बारे में बताइये ?

प्रश्न 4—किन्हीं अन्य दो प्रसिद्ध न्यायों को समझाइये ?

इकाई—3**प्रमाण मीमांसा**

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्न विषयों का विवेचन किया जा रहा है—

- (1) न्याय के अंग व प्रमाण का स्वरूप
- (2) प्रमाण के भेद प्रभेद
- (3) प्रमाण का फल एवं सर्वज्ञसिद्धि

पाठ-1 – न्याय के अंग व प्रमाण का स्वरूप**1.1 न्याय-**

मीमांसा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमांसा का नाम न्याय है। न्याय शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं—

- (1) नियमयुक्त व्यवहार—न्यायालय आदि प्रयोग इसी अर्थ में होते हैं।
- (2) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ दिखाया जाने वाला सादृश्य, जैसे—देहली-दीपक-न्याय।
- (3) अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि।

यहाँ न्याय का तीसरा अंग प्रासंगिक है।

1.2 न्याय की परिभाषा—

वस्तु का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। ज्ञाता उसे जाने या न जाने, इससे उसके अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता। वह ज्ञाता के द्वारा जानी जाती है तब प्रमेय बन जाती है और ज्ञाता जिससे जानता है, वह ज्ञान यदि सम्यक् या निर्णायक होता है तो प्रमाण बन जाता है। इसी आधार पर 'न्याय' की परिभाषा निर्धारित की गई—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' अर्थात् प्रमाण के द्वारा अर्थ (पदार्थ) का परीक्षण करना न्याय है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए भी शास्त्रकारों ने उसका यही अर्थ किया है—'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः' जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तुतत्त्व का ज्ञान होता है, उसे न्याय कहते हैं।

'प्राप्यतेऽर्थसिद्धयेन स न्यायः—जिससे अर्थसिद्धि प्राप्त की जाती है, उसे न्याय कहते हैं। न्याय की प्रवृत्ति अर्थसिद्धि के लिए होती है। व्यक्ति किसी उद्देश्य से कार्य का प्रारंभ करता है और उसकी सिद्धि होने पर उसका अन्त हो जाता है। उद्देश्य और सिद्धि एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। उद्देश्य की सिद्धि के लिए क्रिया चलती है और उसकी सिद्धि होने पर क्रिया रुक जाती है।

1.3 न्याय के अंग—

न्याय-पद्धति की शिक्षा देने वाला शास्त्र 'न्याय-शास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य चार अंग हैं—

1. प्रमाण—वस्तु को जानने का साधन।
2. प्रमेय—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु।
3. प्रमिति—प्रमाण का फल, प्रमाण द्वारा प्रमेय को जानने पर प्राप्त होने वाला परिणाम।
4. प्रमाता—आत्मा-प्रमाण के द्वारा प्रमेय को जानने वाला।

जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो, उसे न्याय कहते हैं। वस्तु स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्रमाण और नय

के द्वारा होता है, अतः न्याय को प्रमाणनय स्वरूप कहा गया है—प्रमाणनयात्मको न्यायः।

प्रमाण और नय का विवेचन क्रमशः उद्देश्य, लक्षण निर्देश और परीक्षा द्वारा होता है।

॥“प्रमाणनयैरधिगमः”॥

प्रमाण और नय के द्वारा जीवादिक पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार से महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में कहा है। वह परम मोक्ष पुरुषार्थ के लिए साधनभूत सम्यग्दर्शनादिक और उनके विषयभूत जीवादि तत्त्वों के जानने के उपाय को बताता है अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा ही जीवादि तत्त्वों का सम्यक् प्रकार से ज्ञान होता है क्योंकि प्रमाण और नय के बिना तत्त्वों को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है इसलिए जीवादि को जानने के उपायभूत प्रमाण और नयों का वर्णन करना चाहिए।

1.4 प्रमाण का स्वरूप—

प्रमाण का सामान्यतया व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—“प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्” अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उस द्वार का नाम प्रमाण है दूसरे शब्दों में जो प्रमा का साधकतम कारण हो वह प्रमाण है। इस सामान्य-निर्वचन में कोई विवाद न होने पर भी उस द्वार में विवाद है। नैयायिकादि प्रमा में साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्ष को मानते हैं जब कि जैन और बौद्ध ज्ञान को ही प्रमा में साधकतम कहते हैं। जैनदर्शन की दृष्टि है कि जानना या प्रमारूप क्रिया चूँकि चेतन है अतः उसमें साधकतम उसी का गुण-ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं, क्योंकि सन्निकर्षादि के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सन्निकर्षादिके अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतः जानने रूप क्रिया का साक्षात् अव्यवहित कारण ज्ञान ही है, सन्निकर्षादि नहीं। प्रमिति या प्रमा अज्ञान-निवृत्तिरूप होती है। इस अज्ञाननिवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही कारण हो सकता है, जैसे कि अंधकार की निवृत्ति में अंधकार का विरोधी प्रकाश। इन्द्रिय, सन्निकर्षादि स्वयं अचेतन है, अतएव अज्ञानरूप होने के कारण प्रमिति में साक्षात् कारण नहीं हो सकते। यद्यपि कहीं-कहीं इन्द्रिय, सन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में शामिल है, पर सार्वत्रिक और सार्वकालिक अन्वय-व्यतिरेक न मिलने के कारण उनकी कारणता अव्याप्त हो जाती है। अन्ततः इन्द्रियादि ज्ञान के उत्पादक भी हों, फिर भी जानने रूप क्रिया में साधकतमता-अव्यवहितकारणता ज्ञान की ही है, न कि ज्ञान से व्यवहित इन्द्रियादि को। जैसे कि अंधकार की निवृत्ति में दीपक ही साधकतम हो सकता है, न कि तेल, बत्ती और दिया आदि। सामान्यतया जो क्रिया जिस गुण की पर्याय होती है, उसमें वही गुण साधकतम हो सकता है। चूँकि ‘जानाति क्रिया’—जाननेरूप क्रिया ज्ञानगुण की पर्याय है, अतः उसमें अव्यवहित कारण ज्ञान ही हो सकता है। प्रमाण चूँकि हित-प्राप्ति और अहितपरिहार करने में समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है।

यहां पर प्रमाण और नयों का वर्णन करने में उद्देश्य, लक्षण निर्देश तथा परीक्षा इन तीन की आवश्यकता है क्योंकि जिसका कथन नहीं किया है उसका लक्षण निर्देश नहीं बन सकता तथा जिसका लक्षण निर्देश नहीं किया उसकी परीक्षा नहीं हो सकती और जिसकी परीक्षा नहीं की है उसका विवेचन भी नहीं हो सकता, लोक में और शास्त्र में भी उसी प्रकार से वस्तु विवेचन की प्रसिद्धि है।

॥ विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः॥

जिस वस्तु का विचार करना है उसके नाम मात्र कहने को उद्देश्य कहते हैं।

॥ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्॥

वस्तु समूह में से किसी एक विवक्षित वस्तु के (निश्चय) पृथक् कराने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

इसी प्रकार अकलंकदेव ने भी कहा है—

॥ परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्॥

परस्पर मिली हुई वस्तु में से किसी एक वस्तु की भिन्नता जिसके द्वारा समझी जाए उसको लक्षण कहते हैं।
उस लक्षण के दो भेद हैं—

1. आत्मभूत 2. अनात्मभूत

जो वस्तु के स्वभाव से अभिन्न है उसको आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे—अग्नि का लक्षण उष्णता है क्योंकि उष्णता अग्नि का स्वरूप है और वह अग्नि को जलादि से पृथक् करा देती है।

जो वस्तु के स्वरूप से भिन्न है उसको अनात्मभूत लक्षण कहते हैं, जैसे—पुरुष का लक्षण दण्ड। किसी ने कहा “दण्डिनम् आनय” अर्थात् दण्डा जिसके हाथ में है उसको लाओ। दण्ड, यह पुरुष का स्वभाव न होकर भी पुरुष को अन्य पुरुषों से पृथक् कर देता है।

॥ असाधारणधर्मवचनं लक्षणम् इति केचित् ॥

असाधारण धर्म के कथन को लक्षण कहते हैं, ऐसा किन्हीं-किन्हीं मत वालों का कथन है। यह ठीक नहीं है क्योंकि लक्ष्य धर्म वचन का लक्षण धर्म वचन के साथ समानाधिकरण के अभाव का प्रसंग आ जायेगा क्योंकि दण्डादि वस्तु के धर्म न होते हुए भी लक्षण माने जाते हैं तथा अव्याप्त नाम का लक्षणाभास भी इसी प्रकार है। सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं।

लक्षणाभास—जो लक्षण के समान दिखे परंतु लक्षण नहीं हो, उसके 3 भेद हैं—

1. अव्याप्त, 2. अतिव्याप्त, 3. असम्भवि।

जो लक्षण के एकदेश में रहे उसे अव्याप्त कहते हैं। जैसे गाय का लक्षण—चितकबरापना।

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहे उसे अतिव्याप्त कहते हैं। जैसे—गाय का लक्षण पशुपना।

जिसके लक्ष्य में रहने में बाधा आती हो उसे असम्भवि कहते हैं, जैसे—मनुष्य का लक्षण सींग। यहां पर असाधारण धर्म लक्षण, लक्ष्य के एकदेश में रहने से अव्याप्त दोषयुक्त है। लक्ष्यभूत में पूर्णतया व्याप्त नहीं है इसलिए उपर्युक्त लक्षण ही निर्दोष है उसका कथन करना लक्षण निर्देश कहलाता है।

परीक्षा का लक्षण—विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्ययावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं न स्यादेवं चेदेवं स्यादित्येवं प्रवर्तते।

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को परीक्षा कहते हैं।

वह परीक्षा यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए, इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

प्रमाण और नय का भी उद्देश्य सूत्रों में ही किया गया है अब उनका लक्षण निर्देश करना चाहिए और परीक्षा यथा अवसर होगी। उद्देश्य के अनुसार लक्षण का कथन होता है। इस न्याय के अनुसार प्रधान होने के कारण प्रमाण का पहले लक्षण किया जाता है।

॥ सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं ॥

समीचीन ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, यहां प्रमाण लक्ष्य है तथा सम्यग्ज्ञानत्व उसका लक्षण है।

जैसे—गाय का लक्षण “सास्नादिमत्व” एवं अग्नि का लक्षण ‘उष्णता’। यहां सम्यक् पद संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय के लिए किया गया है क्योंकि ये तीनों ज्ञान अप्रमाण हैं।

विरुद्ध अनेक कोटि का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे—यह स्थाणु ‘टूठ’ है अथवा पुरुष। स्थाणु और पुरुष दोनों में साधारण रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और विशेष धर्म स्थाणुगत टेढ़ापन कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत सिर, पैर आदि साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना जातियों का अवगाहन करने वाला ही संशय ज्ञान है।

विपरीत एक कोटि के निश्चय कराने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे— सीप में “यह चांदी है” का ज्ञान। इस ज्ञान में सदृशता आदि कारणों से सीप से विपरीत चांदी में निश्चय होता है इसलिए विपर्यय है।

क्या है ? इस प्रकार के अनिश्चयरूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे—

मार्ग में चलते हुए तृण आदि के स्पर्श हो जाने पर “यह क्या है” ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान नाना कोटि का अवलंबन न करने से संशय भी नहीं है, विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपर्यय भी नहीं है इसलिए दोनों ज्ञानों से पृथक् यह ज्ञान ही अनध्यवसाय ज्ञान है। यह तीनों ज्ञान अपने विषय में प्रमिति (सच्चे ज्ञान) को उत्पन्न नहीं कर सकते इसलिए अप्रमाणिक हैं। सम्यक् नहीं हो सकते इसलिए सम्यक् पद से उपरोक्त तीनों ज्ञानों का निराकरण— खण्डन किया। ज्ञान पद से प्रमाता, प्रमिति और “च” शब्द से जानने योग्य पदार्थ प्रमेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होने से इनमें भी सम्यक्त्व है परंतु ज्ञानत्व नहीं है।

शंका—प्रमिति का कर्ता जो प्रमाता है वह ज्ञाता है किन्तु स्वयं ज्ञान नहीं है इसलिए यद्यपि प्रमाता की ज्ञान शब्द से व्यावृत्ति हो सकती है तथापि प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रमिति भी यथार्थ ज्ञान स्वरूप ही है।

समाधान—ऐसा तब हो सकता था जबकि यहां पर ज्ञान शब्द भाव साधन होता किन्तु यहां पर इस ज्ञान शब्द को माना है करण साधन। उसकी व्याकरण के अनुसार “ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्” ऐसी निरुक्ति भी होती है तथा ‘करण धारे चानट्’ इस व्याकरण सूत्र से करण अर्थ में अनट् प्रत्यय होता है। जो ज्ञान शब्द भाव साधन है वह प्रमिति का ही वाचक है किन्तु भाव साधन ज्ञान शब्द से करण साधन ज्ञान शब्द एक भिन्न ही शब्द है। इसी प्रकार प्रमाण शब्द को भी “प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्” ऐसी निरुक्ति के अनुसार यहां पर करण साधन ही समझना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो प्रमाण शब्द की सम्यक्ज्ञान शब्द के साथ एकाधिकरणता नहीं बन सकेगी। इससे यह बात सिद्ध हुई कि प्रमिति क्रिया के जाननेरूप क्रिया के प्रति जो करण है, वह प्रमाण है। प्रमाण निर्णय में भी ऐसा ही कहा है कि— “प्रमाण की प्रमाणता यही है कि जो प्रमितिरूप क्रिया के प्रति साधकतमरूप से करण हो।”

शंका—प्रमाण में प्रमाणता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति कैसे होती है ?

समाधान—मीमांसक मत वाले प्रमाण की उत्पत्ति स्वतः मानते हैं और यौग मत वाले प्रमाण की उत्पत्ति की तरह ज्ञप्ति भी पर से ही मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है।

जैनियों ने प्रमाणता की उत्पत्ति पर से ही मानी है परन्तु प्रमाणता की ज्ञप्ति अभ्यस्त दशा में स्वतः और अनभ्यस्त दशा में पर से होती है।

1.5 भाट्टों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा—

पहले नहीं जाने हुए तथा यथार्थ अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है ऐसा भाट्टों का कहना है किन्तु यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है क्योंकि इन्हीं के द्वारा प्रमाण रूप से माने हुए धारावाहिक ज्ञान अपूर्व अर्थग्राही नहीं हैं। यदि वे कहें कि धारावाहिक ज्ञान में उत्तरोत्तर क्षण विशेषों से युक्त पदार्थ का प्रतिभास होता है इसलिए वह पहले से अज्ञात पदार्थों को ही ग्रहण करता है किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि क्षण अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिए हमारे जैसे लोगों को उसका आभास भी नहीं हो सकता है। इस कारण से भाट्टों का लक्षण सदोष है।

1.6 प्रभाकरों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा—

अनुभूति को प्रमाण का लक्षण प्रभाकर मत वाले मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि अनुभूति शब्द भाव साधन है और प्रमाण शब्द करण साधन है और उन्होंने करण व भाव दोनों ही को प्रमाण माना है।

सालिकानाथ ने कहा है कि—

जब प्रमाण शब्द को ॥ प्रमिति प्रमाणं॥ भाव साधन करते हैं तब ज्ञान ही प्रमाण है। ॥प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणं॥ इस प्रकार करण साधन करने पर आत्मा और मन का सन्निकर्ष प्रमाण होता है अतः अनुभव को प्रमाण का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष आता है।

1.7 नैयायिक के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा—

जानने रूप क्रिया के प्रति जो करण 'हेतु' है उसे प्रमाण कहते हैं किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। उनके यहां उदयन आचार्य ने कहा है—कि "तन्मे प्रमाणं शिवः" वह महेश्वर को प्रमाण मानते हैं और महेश्वर को प्रमाज्ञान का अधिकरण मानते हैं करण नहीं मानते हैं इसीलिए महेश्वर जाननेरूप क्रिया के आधार हैं, हेतु नहीं हैं इसीलिए जब "प्रमाकरणं प्रमाणं" कहेंगे तब महेश्वर से अव्याप्ति आयेगी और जब महेश्वर प्रमा का अधिकरण मानकर प्रमाण कहेंगे तब उपर्युक्त लक्षण में अव्याप्ति आवेगी।

इस प्रकार पर के द्वारा माने गए प्रमाण के लक्षण सभी सदोष हैं इसलिए स्व और पर को जानने में समर्थ, सविकल्प और अग्रहीत को ग्रहण करने वाला सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है ऐसा अर्हन्त भगवान का मत है।

द्वितीय प्रकाश-प्रत्यक्ष प्रकाश—प्रमाण के दो भेद हैं—1. प्रत्यक्ष 2. परोक्ष।

"विशदं प्रतिभासं प्रत्यक्षम्"—स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। चार्वाक लोग एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं तथा बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण मानते हैं।

नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार प्रमाण मानते हैं। इन्हीं चारों में अर्थापत्ति मिलाकर प्रभाकर लोग पांच प्रमाण मानते हैं इन्हीं पांचों में सहानुपलब्धि मिलाकर भाट्ट लोग छह प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग उपरोक्त छह में संभव तथा ऐतीह्य ये दो और मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं।

1.8 सन्निकर्ष का लक्षण—

इन्द्रियों का पदार्थों को स्पर्श करके जानना सन्निकर्ष कहलाता है अतः यह सन्निकर्ष चेतन न होने से प्रमिति क्रिया के प्रति करण नहीं हो सकता इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि चक्षु अप्राप्यकारी है वह पदार्थ को स्पर्श न करके भी रूप ज्ञान को कराने में कारण है इसीलिए सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। नैयायिक कहता है कि चक्षु पदार्थ को स्पर्श करके ही जानती है स्पर्शन इन्द्रिय की तरह परन्तु इस कथन में चक्षु शब्द से कौन सी चक्षु को समझना ? लौकिक अर्थात् गोलकरूप अथवा अलौकिक 'किरणरूप'। यदि गोलकरूप चक्षु पदार्थ को स्पर्श से जानती है ऐसा कहो तो प्रत्यक्ष से बाधा आती है और किरणरूप चक्षु को मानो तो यह बात भी ठीक नहीं है इसलिए सन्निकर्ष में अव्याप्ति दोष आता है।

1.9 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-न्याय की परिभाषा क्या है ?

प्रश्न 2-न्याय के मुख्य अंग कितने हैं उनके नाम लक्षण सहित बताओ।

प्रश्न 3-प्रमाण का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 4-लक्षणाभास किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

पाठ-2—प्रमाण के भेद प्रभेद

2.1 प्रमाण मुख्यतः दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—1. सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष 2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष—“देशतो विशदं सांख्यवहारिकं प्रत्यक्षं” एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद—1. अवग्रह 2. ईहा 3. अवाय 4. धारणा।

अवग्रह की व्याख्या—इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास (दर्शन) के अनन्तर होने वाले और अवान्तर सत्ता जाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान विशेष को अवग्रह कहते हैं जैसे—यह पुरुष है।

ईहा—अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं। जैसे—यह पुरुष दक्षिणी है या उत्तरी।

अवाय—भाषा, वेश आदि विशेष को जानकर निश्चित करना अवाय है। जैसे—यह दक्षिणी ही है।

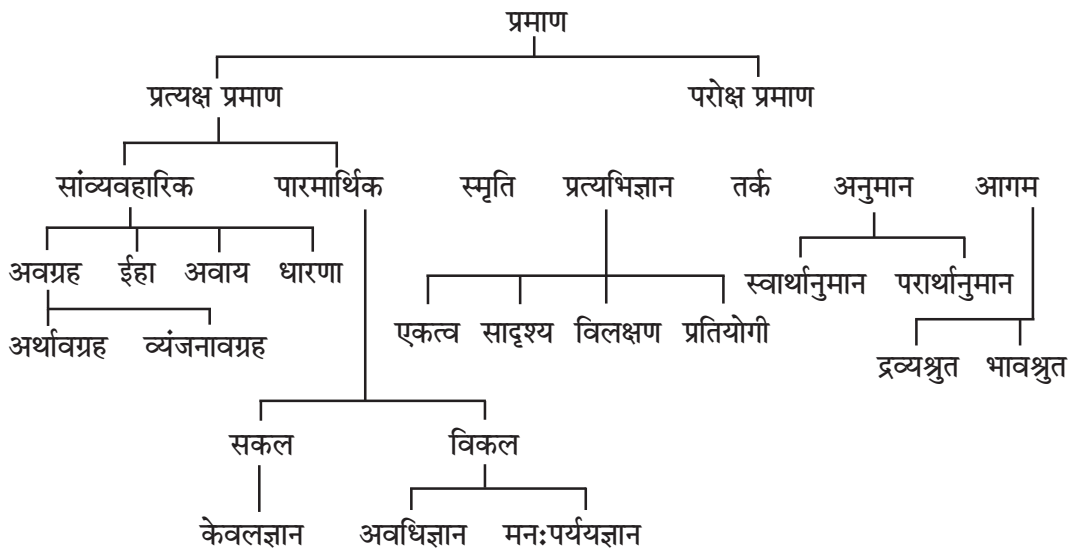
धारणा—अवाय से जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में न भूलना धारणा कहलाता है।

धारणा से ही स्मृति की उत्पत्ति होती है अतः इसका दूसरा नाम संस्कार भी है।

शंका—यह ईहादिक ज्ञान पहले-पहले ज्ञान से जाने हुए पदार्थ को ही जानते हैं अतः धारावाहिक ज्ञान की तरह अप्रमाण हैं?

समाधान—भिन्न विषय होने से अगृहीत ग्राही हैं। जो पदार्थ अवग्रह का विषय है वह ईहा का नहीं है और जो ईहा का है वह अवाय का नहीं है एवं जो अवाय का है वह धारणा का नहीं है इसलिए इनका विषय भेद बिल्कुल स्पष्ट होने से यह धारावाहिक नहीं है। ये अवग्रहादिक चारों ज्ञान जब इन्द्रियों से जाने जाते हैं तब इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहे जाते हैं और जब मन से उत्पन्न होते हैं तब अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

पांच इन्द्रिय और मन इन दोनों के निमित्त से होने वाला अवग्रहादिकरूप ज्ञान लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है।



इसलिए इसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तव में मति और श्रुतज्ञान को तत्त्वार्थसूत्र में परोक्ष माना है इसलिए यहां मतिज्ञान को उपचार से प्रत्यक्ष समझना चाहिए।

इस प्रकार से यहाँ तक परीक्षामुख सूत्र के आधार से प्रमाण का लक्षण, उसके दो भेद, प्रत्यक्ष के दो भेद एवं परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाँच भेदों का लक्षण किया गया है।

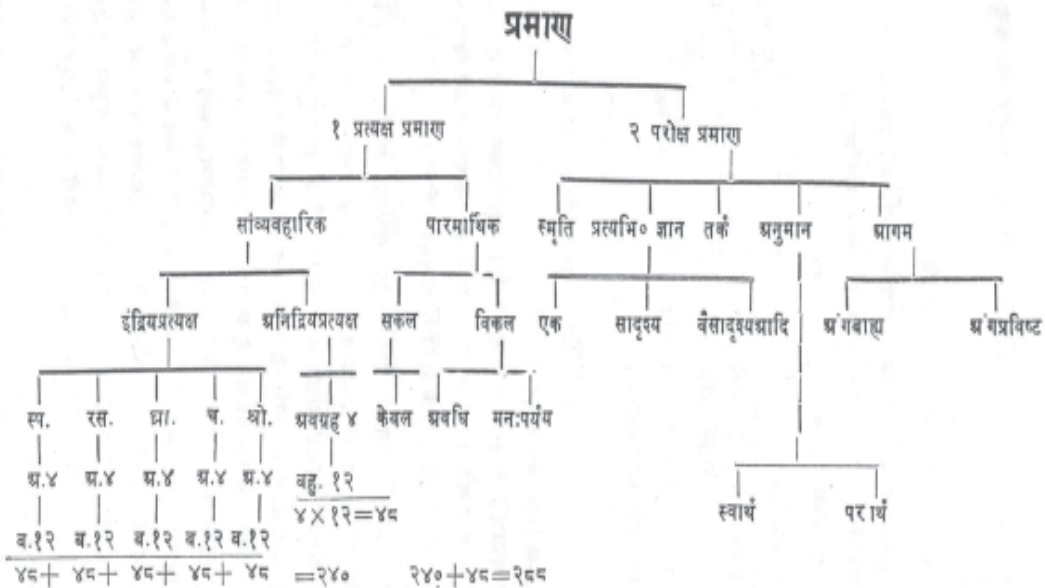
न्यायदीपिका ग्रंथ में कुछ विशेषता है, उसे बताते हैं।

प्रमाण के दो भी भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

उसमें विशद—स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष कहते हैं।

उस प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक। एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। यह ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है अतः चार को छह से गुणा करने से $4 \times 6 = 24$ भेद हुए हैं, इस ज्ञान के विषयभूत पदार्थ बहु, बहुविध आदि के भेद से बारह प्रकार के हैं अतः इन 24 को 12 से गुणा करने पर $24 \times 12 = 288$ भेद हुए।

अवग्रह के दो भेद होते हैं—व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह। व्यञ्जनावग्रह में केवल अवग्रह ही होता है ईहा आदि भेद नहीं होते हैं एवं यह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः एक व्यञ्जनावग्रह को 4 इन्द्रिय से गुणा करके 12 भेदों से गुणित कीजिए $1 \times 4 = 4$, $4 \times 12 = 48$, पुनः उपर्युक्त 288 में इस संख्या को मिला देने से इस सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के 336 भेद होते हैं यथा— $288 + 48 = 336$ । इन भेदों को आगे सारणी में प्रस्तुत किया गया है।



विशेष—अवग्रह के दो भेद हैं अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रह। व्यञ्जनावग्रह के आगे ईहा आदि नहीं होते हैं एवं यह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः व्यञ्जनावग्रह को चार इन्द्रिय और बहु आदि १२ से गुणा करने पर $४ \times १२ = ४८$ भेद होते हैं। $२८८ + ४८ = ३३६$ इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं।

इस सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष को अमुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं। क्योंकि यह उपचार से सिद्ध है। इसी का नाम मतिज्ञान है वास्तव में यह ज्ञान परोक्ष है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में श्री उमास्वामी आचार्य ने स्पष्ट किया है “आद्ये परोक्षं” आदि के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं क्योंकि ये इन्द्रिय, मन आदि की अपेक्षा रखते हैं अतः परोक्ष हैं। यहाँ न्याय ग्रंथों में मतिज्ञान को प्रत्यक्ष कहने का मतलब यह है कि यह ज्ञान इन्द्रिय और मन इन दो निमित्तक होते हुए भी लोक के सांख्यव्यवहार में प्रत्यक्ष इस प्रकार से प्रसिद्ध होने से सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वास्तव में यह मतिज्ञान परोक्ष ही है। श्रुतज्ञान को तो परोक्ष प्रमाण में आगम नाम से कहा ही है।

2.2 प्रमाण के भेद का विचार-

चार्वाक ने एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना है।

बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। सांख्य ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ऐसे तीन भेद माने हैं। नैयायिक ने उसमें उपमान और मिला दिया है। मीमांसक इसी में अर्थापत्ति और अभाव मिलाकर छह भेद कर देते हैं।

जैनाचार्यों ने सर्वत्र प्रमाण के दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो भेदों में ही उपर्युक्त प्रमाण के भेद गर्भित हो जाते हैं।

सिद्धान्त ग्रंथों में आचार्य श्री उमास्वामी आदि ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं विकल और सकल। विकल में अवधि, मनःपर्यय एवं सकल में केवलज्ञान है।

परोक्ष-प्रमाण—

परोक्ष प्रमाण का लक्षण—अविशद अर्थात् अस्पष्ट प्रतिभास को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। कोई कहता है कि परोक्ष प्रमाण सामान्य मात्र को विषय करता है किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह परोक्ष प्रमाण भी सामान्य और विशेषात्मक वस्तु को विषय करते हैं। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं—1. स्मृति 2. प्रत्यभिज्ञान 3. तर्क 4. अनुमान 5. आगम।

स्मृति का लक्षण—पहले ग्रहण किए हुए पदार्थ को विषय करने वाले “वह” इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं जैसे—वह देवदत्त।

जिस पदार्थ का पहले कभी अनुभव नहीं हुआ उस पदार्थ की स्मृति भी नहीं हो सकती इसलिए स्मृति का मूल कारण धारणारूप अनुभव ही है।

शंका—धारणा के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थ में ही स्मरण की उत्पत्ति होती है इसलिए यह स्मृति ग्रहीत ग्राही होने से अप्रमाणीक है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईहादिक की तरह इनके विषय में भी विशेषता है अर्थात् जिस प्रकार ईहादिक ज्ञानों की प्रवृत्ति अवग्रहादिक के द्वारा ग्रहण किए हुए विषय में ही होने पर भी उनके विषय में कुछ न कुछ विशेषता रखती है क्योंकि धारणा का विषय “यह ऐसा है” और स्मरण का विषय “यह ऐसा है” एवं अविशंवादी होने से स्मृति ज्ञान भी प्रमाण है प्रत्यक्षादि की तरह। जिसमें विस्मरण, संशय और विपर्ययास पाया जाता है वह स्मृति न होकर स्मरणाभासरूप अप्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण—अनुभव तथा स्मृति के निमित्त से होने वाले जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं अर्थात् “यह” इस प्रकार के ज्ञान को अनुभव कहते हैं और “वह” शब्द के उल्लेखि ज्ञान को स्मरण कहते हैं, अनुभव और स्मरण इन दोनों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—1. एकत्व 2. सादृश्य 3. विलक्षण 4. तत्प्रतियोगी।

1. एकत्व-यह वही देवदत्त है जिसे कल देखा था।

2. सादृश्य-यह गाय रोज के सदृश है।

3. विलक्षण-यह भैंस गाय से विलक्षण है।

4. तत्प्रयोगी-यह इससे दूर है इत्यादि।

शंका—कोई कहता है कि अनुभव और स्मृति को छोड़कर अन्य कोई प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण नहीं है?

समाधान—यह ठीक नहीं है, अनुभव वर्तमानकालवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है और स्मृति भूतकालवर्ती पर्याय को विषय करती है। तब अनुभव या स्मृतिज्ञान भूत और वर्तमान इन दोनों कालों के जोड़रूप एकत्व या सदृशपने को कैसे ग्रहण करेंगे इसलिए स्मृति तथा अनुभव से भिन्न उसके अनन्तर होने वाला दोनों का जोड़रूप ज्ञान एक भिन्न ही मानना चाहिए।

शंका—दूसरे कोई लोग एकत्व प्रत्यभिज्ञान को मानकर उसे प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत करते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि जिस ज्ञान का इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक है वह प्रत्यक्ष है, यह प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है इसलिए प्रत्यक्ष है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियां केवल वर्तमान दशा को ग्रहण करती हैं इसलिए वे भूत और वर्तमान दोनों दशा में रहने वाली एकता को प्रकाशित नहीं कर सकती हैं क्योंकि इन्द्रियां भूतकालीन अविषय में प्रवृत्ति नहीं कर सकती हैं।

शंका—इन्द्रियां वर्तमान दशा को ही ग्रहण करती हैं फिर भी सहकारी कारणों की सामर्थ्य से पूर्वोत्तर दोनों दिशाओं में रहने वाले एकत्व आदिक प्रत्यभिज्ञान को कर लेती हैं। जैसे कि—सिद्ध अंजनादि लगाने पर चक्षु से ढके पदार्थ की भी प्रतीति हो जाती है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि हजार सहकारी कारण मिलने पर भी इन्द्रियां अविषय में प्रवृत्ति नहीं कर सकती। चक्षु को अंजन आदि सहकारी कारण मिलने पर भी रूपादिक पदार्थों का ही ज्ञान होगा, रस और गंध का ज्ञान नहीं हो सकता। रस और गंध का ज्ञान रसना और घ्राण इन्द्रिय को ही होगा इसलिए पूर्वोत्तर दशा में रहने वाले एकत्व का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता अतः उसका ज्ञान कराने के लिए प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण मानना ही चाहिए।

शंका—कोई-कोई सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमान नाम का पृथक् प्रमाण मानते हैं ?

समाधान—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति और अनुभवपूर्वक जो-जो भी जोड़रूप ज्ञान होते हैं वे सभी प्रत्यभिज्ञान ही हैं।

परोक्ष प्रमाण के मति श्रुत दो भेद करके मतिज्ञान के पर्यायावाची नामों में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि 'मतिःस्मृतिसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थातरम्' मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये पाँचों मतिज्ञान के ही पर्यायावाची नाम हैं।

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

अनुमान—साधन (हेतु) से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है।

आगम—आप्त के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान आगम है।

न्याय ग्रंथों में आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं—सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांख्यव्यवहारिक से मतिज्ञान को लिया है और उसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारण रूप से चार भेद करके पाँच इन्द्रिय और मन से गुणा करके बहु आदि पदार्थ के 12 भेदों से भी गुणित करके 336 भेद कर दिये हैं। जिनका स्पष्टीकरण पहले आ चुका है। पारमार्थिक के विकल-सकल भेद करते हैं तथा मति के पर्यायावाची स्मृति आदि चारों को परोक्ष में ले लेते हैं। उन चारों में श्रुतज्ञान को आगम प्रमाण से मिलाकर के परोक्ष के पाँच भेद कर देते हैं। यथा-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं।

क्योंकि स्मृति आदि मतिज्ञान के समान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है। यही कारण है कि इन्हें परोक्ष में लिया गया है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण में ज्ञान के पाँचों भेद आ जाते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष-पूर्णतया विशदज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी का नाम मुख्य प्रत्यक्ष है। इसके दो भेद हैं—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। उसमें कतिपय विषय को ग्रहण करने वाला विकल प्रत्यक्ष है उसके भी दो भेद हैं—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान।

सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला सकल प्रत्यक्ष है। यह घातिकर्म के नाश से प्रगट हुआ केवलज्ञान है। इस प्रकार से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही पूर्णतया विशद होने से पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं। इन ज्ञानों की पूर्णतया विशदता आत्ममात्र की अपेक्षा रखने वाली है। अर्थात् ये तीनों ज्ञान आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं अतः मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

हेतु—जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) निश्चित है उसे हेतु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसकी साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामों वाली साध्यनुपपत्ति—साध्य होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना, इस रूप से तर्क प्रमाण के द्वारा निर्णीत है, वह हेतु है। श्री कुमारनंदि भट्टारक ने भी कहा है—“अन्यथानुपपत्ति मात्र” जिसका लक्षण है, उसे लिंग-हेतु कहा गया है।

साध्य का लक्षण—जो शक्य अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है। उसे साध्य कहते हैं। यहाँ ‘शक्य’ शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित को लेना, ‘अभिप्रेत’ से इष्ट को समझना एवं ‘अप्रसिद्ध’ से असिद्ध को लेना चाहिए। शब्दों में किंचित् अंतर होते हुए भी ये सभी लक्षण पूर्वोक्त सूत्रों के अनुसार ही हैं।

उपसंहार—यहाँ तक जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के दो भेद, उनके भेद-प्रभेद बतलाये गये हैं। प्रमाण के दो भेदों में प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं एवं प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। सांख्यवहारिक एवं पारमार्थिक। सांख्यवहारिक-मतिज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय, धारणा से चार भेद हैं पुनः इन्द्रिय, मन एवं बहु आदि विषयों से गुणा करने से 336 भेद हो जाते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल, सकल। विकल प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय। सकल प्रत्यक्ष से एक केवलज्ञान ही लिया जाता है। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रातियौगिक के भेद से चार भेद हैं। एवं अनुमान के मुख्य दो अवयव हैं प्रतिज्ञा और हेतु। हेतु के भी उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो भेद हैं। उपलब्धि के अविरुद्धोपलब्धि, विरुद्धोपलब्धि एवं अनुपलब्धि के अविरुद्धानुपलब्धि, विरुद्धानुपलब्धि ऐसे भेद होते हैं। अविरुद्धोपलब्धि के 6 भेद, विरुद्धोपलब्धि के 6 भेद, अविरुद्धानुपलब्धि के 7 भेद एवं विरुद्धानुपलब्धि के 3 भेद ऐसे हेतु के 22 भेद माने गये हैं।

इस प्रकार से सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहकर उसके पाँच भेदों में से मतिज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, श्रुतज्ञान को ‘आगम’ शब्द से परोक्ष अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है। यहाँ तक प्रमाण का विवेचन जैन सिद्धांतानुसार हुआ है।

2.3 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं एवं इसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न 2—मतिज्ञान के 336 भेद कैसे हुए ? स्पष्ट करें ।

प्रश्न 3—साध्य के लक्षण बताइये।

प्रश्न 4—प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं। इसके कितने भेद हैं।

पाठ-3—प्रमाण का फल एवं सर्वज्ञसिद्धि

3.1 प्रमाण का फल—

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव है तथा परंपरा फल त्याग, ग्रहण और उदासीनता है। प्रमाण के द्वारा पहले अज्ञान का अभाव होता है, पश्चात् त्यागने योग्य वस्तु का त्याग और ग्रहण करने योग्य का ग्रहण एवं इन दोनों से रहित वस्तु में उपेक्षा भाव होता है।

प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न है या अभिन्न ?—वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न होता है कथंचित् भिन्न होता है।

प्रमाण से फल अभिन्न कैसे है ?—जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है, वही किसी वस्तु को छोड़ता या ग्रहण करता है, या मध्यस्थ हो जाता है। इसलिए एक जानने वाले व्यक्ति की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण का फल दोनों अभिन्न हैं तथा प्रमाण और उसके फल की भेद प्रतीति होती है, इसीलिए दोनों भिन्न हैं।

3.2 सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला अनुमान—

सकल प्रत्यक्ष

सकल प्रत्यक्ष को केवलज्ञान कहते हैं। क्योंकि वह असहाय होता है अर्थात् परनिरपेक्ष तथा एकाकी ही होता है। यह पूर्ण अतीन्द्रिय है। इस अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप बताते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने लिखा है।

“अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।

पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणिदं।।4।।”

(प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार)

अर्थात् जो अप्रदेशी परमाणु और कालाणु को, सप्रदेशी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों को, मूर्तिक और अमूर्तिक को, अनागत तथा अतीत पर्यायों को जानता है, उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। अतः अतीन्द्रिय ज्ञानी सर्वज्ञ होता है।

शंका—अतीन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है और वह अरहन्त भगवान में पाया जाता है क्योंकि अरहन्त भगवान सर्वज्ञ हैं।

शंका—जब सर्वज्ञ की ही सिद्धि नहीं है तब अरहन्त भगवान सर्वज्ञ हैं यह कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं क्योंकि सर्वज्ञ की सिद्धि अनुमान से होती है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि ये अनुमान के विषय हैं, जैसे—अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। सूक्ष्म अर्थात् जो स्वभाव से दूरवर्ती हैं, जैसे—परमाणु आदि।

अन्तरित अर्थात् जो काल से दूरवर्ती हैं, जैसे—राम, रावण आदि। दूरार्थ अर्थात् जो पदार्थ क्षेत्र से दूरवर्ती हैं, जैसे—मेरु आदि।

ये सभी पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय अवश्य हैं क्योंकि ये पदार्थ अनुमान ज्ञान के विषय हैं। जो-जो अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं वे पदार्थ किसी न किसी ज्ञान के विषय अवश्य होते हैं, जैसे—अग्नि आदि।

शंका—यह बात तो हम मान सकते हैं कि सूक्ष्मादि पदार्थ को जानने वाला कोई न कोई सर्वज्ञ अवश्य है और उस सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष है किन्तु वह ज्ञान अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है यह कैसे ?

समाधान—यदि वह ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होता तो सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं जान सकता है क्योंकि इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं, जैसे—घ्राण इन्द्रिय देखने का कार्य नहीं कर सकती तथा इन्द्रियों का ज्ञान सीमित भी है। सम्पूर्ण पदार्थों को वह एक साथ नहीं जान सकता है इसलिए इन्द्रिय के ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता है।

शंका—सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान तो सिद्ध हुआ परन्तु वह अरहन्त में ही है, यह कैसे? कपिल, बौद्ध, महादेव आदि सभी में ही अतीन्द्रिय ज्ञान रह सकता है और सभी ही सर्वज्ञ बन सकते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, अरहन्त भगवान ही सर्वज्ञ हैं क्योंकि ये निर्दोष हैं। जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष भी नहीं हो सकता, जैसे—रास्ते में चलने वाले साधारण मनुष्य।

ज्ञानावरणादि कर्म तथा रागादिकरूप दोषों से रहित है उसे निर्दोष कहते हैं। यह निर्दोषता सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकती क्योंकि जो अल्पज्ञानी हैं उनमें ज्ञानावरणादि दोष पाये जाते हैं।

इसलिए रागादि से युक्त सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे सदोष हैं और उनके वचन न्याय और आगम से विरुद्ध हैं। उनके माने हुए एकान्त तत्त्व में प्रमाण से बाधा आती है और सर्वज्ञ भगवान के वचन स्यात्कार अर्थात् कथंचित् शब्द से सहित हैं इसलिए अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्त में ही पाया जाता है और उनके वचन की प्रमाणता से अवधि और मनःपर्यय ज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं यह सिद्ध हो गया इसलिए प्रमाण के सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद सिद्ध हुए।

जैन-परम्परा प्रत्येक शुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी मानती है। अतः सर्वप्रथम समन्तभद्राचार्य ने अपने 'आप्तमीमांसा' नामक प्रकरण में सर्वज्ञ की सिद्धि तर्कपद्धति के आधार पर करते हुए लिखा है कि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं। जो-जो अनुमेय-अनुमान प्रमाण का विषय होता है, वह-वह प्रत्यक्ष भी देखा जाता है, जैसे अग्नि को हम धूम के द्वारा अनुमान से जानते हैं तो उसका प्रत्यक्ष भी होता है। शाबरभाष्य के टीकाकार कुमारिल ने अपने 'श्लोकवार्तिक' आदि ग्रंथों में जैनों की सर्वज्ञता-विषयक मान्यता की समीक्षा की है।

सर्वज्ञ का निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं है। शायद कहा जाए कि सत् को विषय करने वाले पाँच प्रमाण हैं और वे पाँचों प्रमाण सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं बतलाते। अतः सर्वज्ञ के ज्ञापक का अभाव ही सर्वज्ञ का बाधक है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस पर इस प्रश्न होता है कि 'सर्वज्ञ का ज्ञापक प्रमाण नहीं पाया जाता', यह बात आप अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं या सबके अनुभव के आधार पर कहते हैं? यदि आप अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं, तो आपको तो दूसरे के मन के विचारों का भी पता नहीं है, तब क्या उनका भी अभाव कहा जाएगा ? और यदि सबके अनुभव के आधार पर कहते हैं, तो आपको यह ज्ञान कैसे हुआ कि देशान्तर और कालान्तरवर्ती सब मनुष्यों को सर्वज्ञ को बतलाने वाले किसी प्रमाण का पता नहीं था ? इसी से तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा है—'सर्वज्ञ का ज्ञापक (बतलाने वाला) कोई प्रमाण नहीं है', यदि यह आप अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कहते हैं, तब तो 'समुद्र में कितने घड़े पानी है।' यह बात आप नहीं जानते तो क्या समुद्र के पानी घड़ों के रूप में कोई माप ही नहीं है ? यदि आप यह बात सब व्यक्तियों के अनुभव के आधार पर कहते हैं तो अल्पज्ञानी पुरुष सब मनुष्यों के व्यक्तिगत अनुभवों को नहीं जान सकता, अतः वह ऐसी बात कैसे कह सकता है? और यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जो देशान्तर और कालान्तरवर्ती सब मनुष्यों के अनुभवों को जानता है तो फिर आप सर्वज्ञ का निषेध क्यों करते हैं ? क्योंकि सबको सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण की अनुपलब्धि है', यह बात चक्षु आदि इन्द्रियों से जानी नहीं जा सकती; क्योंकि अतीन्द्रिय है; न अनुमान से जानी जा सकती है, क्योंकि उसका सूचक कोई लिंग नहीं है। सब प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जाना जा सकता, तो फिर अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण की तो गति ही कहाँ है ? क्योंकि यदि सबको सर्वज्ञ के ज्ञापक का अनुपलम्भ न होता तो अमुक बात न होती। चूँकि अमुक बात है, अतः सबको

सर्वज्ञ के ज्ञापक का अनुपलम्भ है। इस तरह से सर्वज्ञ के ज्ञापक के अनुपलम्भ के अभाव में न हो सकने वाली कोई बात होती, तो उसके आधार पर अन्यथानुपपत्ति प्रमाण के द्वारा सर्वसम्बन्धितज्ञापकानुपलम्भ को जाना जा सकता था सो कोई है नहीं। इसी तरह उपमान प्रमाण से भी सर्वसम्बन्धितज्ञापकानुपलम्भ को नहीं जाना जा सकता। इस तरह जब सर्वसम्बन्धितज्ञापकानुपलम्भ को प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, तो केवल आगम प्रमाण शेष रहता है। किन्तु मीमांसक आगम प्रमाण वेद से भी यह नहीं कह सकता है कि सबको सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का अनुपलम्भ है; क्योंकि मीमांसक वेद को केवल यज्ञ-यागादि के विषय में प्रमाण मानता है, तब वह वेद सर्वज्ञ की सत्ता या असत्ता के विषय में प्रमाण कैसे हो सकता है ? शायद कहा जाए कि अभाव प्रमाण से हम यह बात जानते हैं कि सबको सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का अनुपलम्भ है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं होती। आपने ही माना है कि दृश्य वस्तु का दर्शन न होना उसके अभाव में प्रमाण है, केवल दिखाई न देने से ही किसी का अभाव नहीं माना जा सकता। अतः जो घट को खोजता है वह पहले घड़ा रखने की जगह को देखता है। फिर उसे घड़े का स्मरण होता है, उसके पश्चात् इन्द्रियों की सहायता के बिना ही उसके मन में यह ज्ञान होता है कि घड़ा नहीं है, यह अभाव प्रमाण है। आपके इस कथन के अनुसार पहले सब मनुष्यों को जानना चाहिए, फिर सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का स्मरण होना चाहिए। तब उसको सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का अनुपलम्भ है, ऐसा ज्ञान हो सकता है। किन्तु सब मनुष्यों का साक्षात् ज्ञान एक साथ हो नहीं सकता, और न क्रम से ही हो सकता है; क्योंकि अपने सिवा अन्य आत्माओं का प्रत्यक्ष आपको इष्ट नहीं है अर्थात् आत्मान्तर का प्रत्यक्ष होना आप नहीं मानते। दूसरे क्रम से सब आत्माओं को जानने में एक बाधा और भी है। जिस समय किसी एक आत्मा को ज्ञापकोपलम्भ के अभाव का ज्ञान होगा, उस समय अन्य मनुष्य-सम्बन्धी ज्ञापकोपलम्भ के अभाव का ज्ञान नहीं होगा। तब 'सबको ज्ञापक का अनुपलम्भ है' यह ज्ञान कैसे हो सकता है ? तथा मीमांसक के मत में किसी अन्य प्रमाण से भी सब मनुष्यों का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि उनके सूचक लिंग आदि का अभाव है। इसके सिवा, पहले सर्वज्ञ के ज्ञापक का उपलम्भ सिद्ध हो तो पीछे उसका स्मरण होने पर 'सर्वज्ञ के ज्ञापक का उपलम्भ ही सिद्ध नहीं है।'

शायद आप (मीमांसक) कहें कि जैन लोग सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का उपलम्भ मानते हैं, अतः उनके मानने से जो ज्ञापकोपलम्भ सिद्ध हैं, हम उसका अभाव सिद्ध करते हैं। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि हम जैन लोग जो सर्वज्ञ के ज्ञापक का उपलम्भ मानते हैं, हमारा वह मानना प्रमाण है या अप्रमाण है ? यदि वह प्रमाण है तब तो आपको भी सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का उपलम्भ मानना चाहिए। फिर आप उसका निषेध क्यों करते हैं ? और यदि वह हमारा मानना अप्रमाण है, तो उसके आधार पर आप अभाव प्रमाण से ज्ञापकानुपलम्भ की सिद्धि नहीं कर सकते। अतः सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का अनुपलम्भ सर्वज्ञ के अस्तित्व में बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह सिद्ध नहीं हो सका। इसलिए सर्वज्ञ के बाधक प्रमाण का सुनिश्चित अभाव ही सर्वज्ञ का साधक है। क्योंकि जो वस्तु असत् होती है, उसके बाधक प्रमाण का सुनिश्चित रूप से अभाव नहीं होता। जैसे मरीचिका में होने वाला जलज्ञान झूठा है, अतः उसका बाधक प्रमाण है। किन्तु सर्वज्ञ का बाधक कोई प्रमाण नहीं है, यह सुनिश्चित है। अतः सर्वज्ञ अवश्य है।

इसी तरह 'अष्टसहस्री' के रचयिता स्वामी विद्यानन्द ने मीमांसक का निराकरण करते हुए सर्वज्ञ की सिद्धि इस आधार पर की है कि मीमांसक जो छह प्रमाण मानता है, उनमें से कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है। अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व में बाधक किसी प्रमाण के न होने से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध की गयी है।

3.3 अन्य प्रकार से सर्वज्ञ की सिद्धि-

मीमांसक मानता है कि वेद के द्वारा विशिष्ट पुरुषों को भूत, वर्तमान और भावी पदार्थों का तथा विप्रकृष्ट पदार्थों

का ज्ञान हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा में सकल पदार्थों को जानने की शक्ति है। तथा अनुमान प्रमाण के लिए व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है। और व्याप्ति ज्ञान का विषय समस्त देश और समस्त काल होता है। जैसे 'जो सत् है वह सब अनेकान्तात्मक होता है' यह व्याप्ति ज्ञान है, जो सत् मात्र को विषय करता है। इस व्याप्ति ज्ञान से भी यह स्पष्ट है कि आत्मा में सब पदार्थों को जानने की शक्ति है। अब प्रश्न यह होता है कि जब आत्मा में सब पदार्थों को जानने की शक्ति है और वह ज्ञान स्वभाव है, तो वह सबको जानता क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे मदिरा पीने से मनुष्य उसके नशा से ग्रस्त हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा में अज्ञान का उदय होता है। और कर्मों को अभाव होने पर जब वह पूरी तरह से व्यामोह से मुक्त हो जाता है तो समस्त अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को जानता देखता है, तब उसके लिए दूरी और निकटता का प्रश्न नहीं रहता।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानावरण आदि कर्मों का अभाव हो जाने पर यह आत्मा पूरी तरह से व्यामोह रहित कैसे हो जाता है, जिससे वह अर्थ पर्याय ओर व्यंजनपर्याय स्वरूप समस्त अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को साक्षात् जानता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—जो जिसके होने पर ही होता है वह उसके अभाव में नहीं ही होता। जैसे अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता। ज्ञानावरण आदि कर्मों का सम्बन्ध होने पर ही आत्मा में अज्ञान होता है, अतः उनके अभाव में वह नहीं होता। यह निश्चित है।

शंका—जब सर्वज्ञ एक क्षण में ही सब पदार्थों को जान लेता है, तो दूसरे क्षण में उसे जानने के लिए कुछ भी नहीं रहता, अतः वह अज्ञ कहा जाएगा। तथा जब वह रागी मनुष्यों में स्थित राग को जानेगा तो वह भी रागी हो जाएगा ?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं है, यदि दूसरे क्षण में पदार्थों का अथवा उसके ज्ञान का अभाव हो जाए तो वह अज्ञ हो सकता है। किन्तु ऐसा नहीं होता; क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान तथा दुनिया के पदार्थ, दोनों ही अनन्त हैं। अतः प्रथम क्षण में सर्वज्ञ भावी पदार्थों को 'ये भविष्य में उत्पन्न होंगे' इस रूप से जानता है, न कि वर्तमान रूप से। बाद में उत्पन्न होने पर वे ही पदार्थ वर्तमान रूप से प्रतिभासित होते हैं। अतः जिस समय जो वस्तु जिस धर्म से विशिष्ट होती है, उस समय सर्वज्ञ के ज्ञान में उसी रूप से प्रतिभासित होती है। रही दूसरी आपत्ति, सो वह भी अनुचित है; क्योंकि रागादि रूप से परिणमन करने से ही कोई रागी होता है, राग को जानने मात्र से कोई रागी नहीं हो जाता। अन्यथा जिस समय कोई पुरुष मदिरा पान छोड़ने के लिए मदिरा की बुराई बतलाता है, उस समय वह भी शराबी कहा जाएगा। अतः जिस मनुष्य में इन्द्रियों में उद्रेक पैदा करने वाली वासना जाग्रत होती है, वही रागादिमान कहा कहा जाता है; किन्तु जो वीतराग होता है, वही सर्वज्ञ होता है, अतः सर्वज्ञ में जानने मात्र से राग का सद्भाव नहीं माना जा सकता।

शंका—यदि सर्वज्ञ का ज्ञान संसार के आदि और अन्त को जान लेता है तो संसार अनादि अनन्त नहीं रहता, और यदि नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ कैसे हुआ ?

उत्तर—यह पहले कह आये हैं कि जो वस्तु जिस रूप से स्थित होती है, उसको सर्वज्ञ उसी रूप से जानता है। अतः जो अर्थ अनादि—अनन्त रूप से स्थित है उसकी सर्वज्ञ अनादि—अनन्त रूप से ही मानता है।

शंका—यदि सर्वज्ञ भविष्य को जानते हैं तो भविष्य भी निश्चित हो जाता है। और जब भविष्य निश्चित है तो पुरुषार्थ व्यर्थ ठहरता है ?

उत्तर—सर्वज्ञ के जान लेने से भविष्य निश्चित नहीं हो जाता, किन्तु जो होनहार है वह निश्चित है और उसे सर्वज्ञ जानता है। किन्तु इससे पुरुषार्थ एकदम व्यर्थ नहीं ठहरता। संसार में बहुत से कार्य ऐसे होते हैं, जिनमें दैव की प्रधानता और पुरुषार्थ की गौणता होती है; और बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जिनमें पुरुषार्थ की प्रधानता और दैव की गौणता होती है। जैसे बम्बई के समुद्रतट पर खड़े जहाज में विस्फोट होने से उस पर लदा सोना उड़-उड़कर तट से दूर शहर के घरों में छतों को तोड़कर जा गिरा और उनमें रहने वालों को अनायास मिल गया। इसमें दैव की प्रधानता है। और सुबह से

शाम तक श्रमपूर्वक तरह-तरह के उद्योग-धन्धे करके जो धन-संचय करते हैं, उनमें पुरुषार्थ की प्रधानता है। सर्वज्ञ का ज्ञान इन सबको जानता है। जो दैववादी हैं उनके भी भविष्य को जानता है, जो पुरुषार्थवादी हैं उनके भी भविष्य को जानता है। जो पुरुषार्थ करके उसमें सफल होंगे, उनके भी भविष्य को जानता है और पुरुषार्थ करके उसमें सफल नहीं होंगे, उनका भी भविष्य जानता है किन्तु किसी का भविष्य वह बनाता या बिगाड़ता नहीं है। उसका बनाना या बिगाड़ना तो स्वयं उस व्यक्ति के ही हाथ में है। स्वयं अपने पुरुषार्थ से ही वह उसे बनाता या बिगाड़ता है। क्योंकि जिसे हम दैवे कहते हैं, वह भी तो पूर्व जन्म में किया हुआ पुरुषार्थ ही है। किन्तु वह निश्चित है और उसे सर्वज्ञ जानता है। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि पुरुषार्थ की सफलता का मतलब 'जो नहीं होने वाला हो उसका होना' नहीं है, किन्तु जो होने वाला हो उसको बना लेना ही पुरुषार्थ की सफलता है। इस तरह जैनदर्शन में निरावरण केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष माना है और केवलज्ञानी को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी कहा है।

3.4 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न 2—अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 3—मनः पर्यय ज्ञान का लक्षण बताइये ?

प्रश्न 4—सर्वज्ञ के अस्तित्व को तर्क सहित सिद्ध कीजिये।

इकाई—4

प्रमेयादि विविध विषयों का विवेचन

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्न विषयों का विवेचन किया जा रहा है—

- (1) प्रमेय, प्रमिति एवं प्रमाता
- (2) विभिन्न मतानुसार प्रमाण का लक्षण
- (3) सच्चे आप्त के संबंध में तर्क-संगत विवेचना
- (4) ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खण्डन

पाठ-1—प्रमेय, प्रमिति एवं प्रमाता

1.1 न्याय के चार अंगों में दूसरा अंग है—प्रमेय। प्रमाणेन आनेन प्रमीयते ज्ञायते यत् वस्तु तत्त्वं तत् सर्वं प्रमेयं ज्ञेयमित्यर्थः। प्रमाण—ज्ञान के द्वारा जो वस्तु तत्त्व जाना जाता है वह सभी तत्त्व प्रमेय—ज्ञेय कहलाता है। अर्थात् ज्ञान से जाने गये सभी पदार्थ ज्ञेय कहलाते हैं और ज्ञान को ही प्रमाण माना है अतः प्रमाण से जाने गये सभी पदार्थ 'प्रमेय' कोटि में आ जाते हैं। संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या परोक्ष ज्ञान का विषय हो किन्तु सभी चेतन-अचेतन पदार्थ ज्ञान के विषय अवश्य हैं जो ज्ञान के विषय नहीं है वे पदार्थ ही नहीं है वे तो आकाशकमलवत् असत् ही हैं। अतः प्रमेय शब्द से सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थ आ जाते हैं। यहाँ तक कि प्रमाण भी कथंचित् प्रमेय है जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है अतः ज्ञान जानने वाला होने से ज्ञान है एवं स्वयं के द्वारा स्वयं जाना जाता है अतः ज्ञेय भी है।

आचार्य कहते हैं कि 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' सूत्र में ज्ञान शब्द से प्रमाता—आत्मा और प्रमिति—ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है, इस पर शंकाकार करता है कि जैसे ज्ञानपद से प्रमाता और प्रमिति का निराकरण किया है वैसे ही प्रमेय का निराकरण क्यों नहीं किया, क्योंकि प्रमेय भी ज्ञानरूप नहीं है। इस पर जैनाचार्य कह रहे हैं कि च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हुआ समझना चाहिए। यद्यपि 'स्व' को जानने की अपेक्षा से ज्ञान 'प्रमेय' ही है फिर भी घट पट आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से प्रमेय नहीं भी है अतः च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हो जाता है। यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि ये प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय तीनों ही यद्यपि ज्ञान नहीं है फिर भी इनमें सम्यक्पना सिद्ध है। इसलिए सच्चे ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ सच्चे ज्ञेय—प्रमेय कहलाते हैं। ये ही ज्ञेयभूत जीवादिपदार्थ द्रव्य, तत्त्व आदि सम्यक्त्व के विषयभूत हैं।

इसलिए यद्यपि 'प्रमेय' शब्द से प्रमाण को भी लिया जा सकता है फिर भी इस ग्रंथ में प्रमाण की समीक्षा करने के बाद प्रमेय की समीक्षा की गयी है, क्योंकि न्याय शास्त्रों में प्रमाण का विषय ही मुख्यतया प्रतिपाद्य है और ये न्याय शास्त्र प्रमाण शास्त्र भी कहलाते हैं।

इस प्रमेय समीक्षा में सबसे प्रथम 'दर्शन' शब्द का निरुक्ति अर्थ करते हुए सभी दर्शनों की संक्षिप्त समीक्षा की जाती है।

1.2 दर्शन शब्द का महत्त्व और आधार—

'दृश्यते निर्णयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्, अथवा दृश्यते निर्णयते इदं वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्।'

व्याकरण शास्त्र की इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार दृश् धातु से दर्शन शब्द बना है। जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाये—निर्णीत किया जाये वह दर्शन है, या दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द का अर्थ उल्लिखित

विचारधारा के द्वारा निर्णीत तत्त्वों की स्वीकारता होता है एवं पहली व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परीक्षास्वरूप उस विचारधारा का नाम है जो तत्त्वों के निर्णय में प्रयोजक हुआ करती है। जैसे—यह संसार नित्य है या अनित्य? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं? आत्मा का स्वरूप क्या है? इसका पुनर्जन्म होता है या नहीं? ईश्वर की सत्ता है या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन शास्त्र का काम है।

‘शास्त्र’ शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है—शास्-आज्ञा करना तथा शंस-वर्णन करना। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार शासन अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्म शास्त्र के लिए किया जाता है। शंसक शास्त्र-बोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया जाये। धर्मशास्त्र कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रतिपादन करने के कारण पुरुष परतंत्र है। किन्तु दर्शन शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से वस्तु परतंत्र है।

दर्शन को दो भागों में विभक्त किया गया है—

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन। भारतीय दर्शन में भी वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन से दो भेद हो गये हैं।

वैदिक दर्शन में—मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन लिये जाते हैं।

अवैदिक दर्शन में—जैन, बौद्ध और चार्वाक माने जाते हैं। वेद परम्परा के पोषक वैदिक एवं वैदिक परम्परा से भिन्न दर्शनों को अवैदिक दर्शन कहते हैं।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त इन छह दर्शनों को आस्तिक एवं जैन, चार्वाक तथा बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहा जाता है। यहाँ वेदों को मानने वालों को आस्तिक एवं वेदों को न मानने वालों को नास्तिक कहा है। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रायः प्राणियों को जन्मान्तररूप परलोक स्वर्ग, नरक तथा मुक्ति को न मानने वालों को नास्तिक कहा जाता है, इससे जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक न होकर आस्तिक हो जाते हैं क्योंकि ये दोनों दर्शन परलोक, स्वर्ग आदि को स्वीकार करते हैं। यदि जगत् के कर्ता अनादि निधन ईश्वर को मानने में आस्तिकता है, तब तो सांख्य, मीमांसक भी ईश्वर की सृष्टि का कर्ता न मानने से नास्तिक बन जावेंगे, क्योंकि ये दोनों ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जैन नास्तिक नहीं है परलोक स्वर्ग, नरक, मुनि आदि मानते हैं, ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानकर भी निरीश्वरवादि नहीं है क्योंकि अनन्त ईश्वरों-सर्वज्ञों को स्वीकार करते हैं।

1.3 प्रमेय का स्वरूप—

प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। संख्या की दृष्टि से प्रमेय अनन्त हैं, क्योंकि जगत् में जितने भी द्रव्य या पदार्थ हैं, वे सब प्रमेय हैं। प्रमेय का विभाजन पदार्थों की संख्या के आधार पर नहीं अपितु उनकी स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। दर्शन जगत् में स्वरूप की दृष्टि से प्रमेय के चार रूप बनते हैं—

1. प्रमेय नित्य हैं।
2. प्रमेय अनित्य हैं।
3. कुछ प्रमेय नित्य एवं कुछ अनित्य हैं।
4. प्रमेय नित्यानित्य हैं।

वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन में प्रमेय को कूटस्थ नित्य माना गया है। बौद्ध दर्शन में प्रमेय को अनित्य माना गया है। न्याय दर्शन में कुछ प्रमेयों, जैसे—आत्मा, आकाश आदि को नित्य माना गया है तथा दीपशिखा आदि कुछ प्रमेयों को अनित्य माना गया है। जैन दर्शन में प्रमेय को नित्यानित्य माना गया है।

1.4 जैनदर्शन में प्रमेय का स्वरूप—

जैन दर्शन जगत् की वस्तुओं को संख्या की दृष्टि से अनन्त स्वीकार करके भी स्वरूप की दृष्टि से उसे नित्यानित्य

या सामान्यविशेषात्मक ही मानते हैं। सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि अनन्त धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय (प्रमेय) होती है।

इस सूत्र में प्रमेय के निम्न स्वरूप बतलाये गये हैं-

1. सत्-असत्, 2. नित्य-अनित्य, 3. सामान्य-विशेष, 4. वाच्य-अवाच्य।

सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि परस्पर अविनाभावी हैं अर्थात् एक-दूसरे के बिना नहीं रहते। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

1. सत्-असत्-जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। उनमें एक धर्म है सत्-असत् का अविनाभाव। सत् के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा गया-‘उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं सत्’-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक पदार्थ को सत् कहा जाता है। उत्पाद और व्यय परिवर्तन के सूचक हैं तथा ध्रौव्य नित्यता का सूचक है।

उत्पाद—‘उत्तरोत्तराकारणामुत्पत्तिः उत्पादः-उत्तरोत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम उत्पाद है। यथा—दूध में जामन देने पर दही रूप पर्याय का उत्पाद हो गया। पर हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि स्वजाति (मूल द्रव्य) का परित्याग किये बिना भवान्तर (दूसरी अवस्था) का ग्रहण करना उत्पाद है। मिट्टी का पिण्ड घट पर्याय में परिणत होता हुआ भी मिट्टी ही रहता है। अतः मिट्टीरूप जाति का परित्याग किये बिना घटरूप भवान्तर का जो ग्रहण है, वही उत्पाद है।

व्यय—‘पूर्वपूर्वाकाराणां विनाशः व्ययः’-पूर्व-पूर्व आकार के विनाश का नाम व्यय है। उत्पाद की भांति व्यय का स्वरूप बताते हुए कहा गया कि स्वजाति का परित्याग किये बिना पूर्वाभाव (पर्याय) का जो विगम (नाश) है, वह व्यय है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड की आकृति का विगम, व्यय का उदाहरण है। पिण्ड जब घट बनता है, तो उसकी पूर्वकृति पिण्ड का व्यय हो जाता है। इस व्यय में मिट्टी का नाश नहीं होता है, केवल आकृति का नाश होता है।

ध्रौव्य—‘एतद्व्ययपर्यायान्वयि एव ध्रौव्यं सद् उच्यते’-उत्पाद एवं व्यय इन दोनों पर्यायों में जो अन्वित होता है, हमेशा बना रहता है, उसे ध्रौव्य कहते हैं। उसी को सत् भी कहते हैं। उदाहरण के लिए पिण्डादि अनेक अवस्थाओं में मिट्टी का जो अन्वय है, वह ध्रौव्य है। इस प्रकार जैनदर्शन में सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना गया है और वही प्रमाण का विषय (प्रमेय) बनता है।

एकान्तवादी कुछ आचार्यों का वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूप पर यह आक्षेप है कि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य परस्पर विरोधी हैं। परस्पर विरोधी गुणधर्म वस्तु में एक साथ कैसे रह सकते हैं ? इसका समाधान देते हुए जैन आचार्यों ने लिखा-

‘घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्॥

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥’

इस श्लोक में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों एक साथ कैसे हो सकते हैं, इस बात को उदाहरण से समझाया गया है-

एक बार तीन व्यक्ति एक स्वर्णकार की दुकान पर पहुँचे। उस समय स्वर्णकार स्वर्णकलश को तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा था। उन तीनों में से पहला व्यक्ति स्वर्णमुकुट चाहता था, दूसरा स्वर्णकलश चाहता था और तीसरा केवल स्वर्ण चाहता था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले व्यक्ति को प्रसन्नता हुई क्योंकि वह स्वर्णमुकुट का उत्पाद देख रहा था। दूसरे व्यक्ति को दुःख हुआ क्योंकि वह स्वर्णकलश का व्यय (नाश) देख रहा था और तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ (तटस्थ) रहा क्योंकि उसे स्वर्ण चाहिए था और उसे वहाँ स्वर्ण ही दिखाई दे रहा था। इस प्रकार एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों बातें एक साथ दिखाई देती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक वस्तु को ही सत् कहते हैं।

1.5 प्रमिति (प्रमाण का फल) —

न्याय के चार अंगों में तीसरा अंग है—प्रमिति। दर्शन जगत् में प्रमाण और प्रमेय की भांति प्रमिति (प्रमाण-फल) की चर्चा भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जैनदर्शन आत्मवादी होने के कारण आत्मा को प्रमाता मानता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह प्रमा (जानने) का साधकतम उपकरण है, इसलिए ज्ञान को प्रमाण मानता है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है इसलिए ज्ञान को ही प्रमिति (प्रमाण-फल) मानता है। अतः जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान ही प्रमिति है। जैनदर्शन में प्रमाण के दो फल माने गये हैं—1. अनन्तर फल, 2. परम्परा फल।

अनन्तर फल—अनन्तर अर्थात् साक्षात् फल (मुख्य फल) प्रमाण का साक्षात् फल है—पदार्थ का बोध होना, ज्ञान होना।

जैन दर्शन में ज्ञान का आविर्भाव (प्रकटीकरण) ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से माना गया है। उसमें पदार्थ, प्रकाश आदि को कारण नहीं माना गया। जैन दार्शनिकों का मतव्य है कि पदार्थ की उपस्थिति में भी उसका ज्ञान नहीं होता है, यदि तत्सम्बद्ध ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो। इसलिए जैन दार्शनिकों ने विषय के ज्ञान को सीधा प्रमाणफल न कहकर तत्संबद्ध अज्ञाननिवृत्ति को प्रमाण का फल कहा है। उदाहरणार्थ हमें घट (घड़ा) का ज्ञान हुआ है। इसका अर्थ है—हमारी घट-संबंधी अज्ञान की निवृत्ति हुई है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि समस्त प्रमाणों का साक्षात् फल जैन दर्शन में अज्ञाननिवृत्ति को माना गया है।

परम्परा फल—परम्परा अर्थात् गौण फल, अनन्तर के बाद होने वाला फल। प्रमाण का परस्पर फल हान (हेय) उपादान (उपादेय) और उपेक्षा (मध्यस्थ) बुद्धि है। वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को वह यदि अहितकारी प्रतीत होती है तो वह उसे छोड़ देता है, अर्थात् उस वस्तु के प्रति उसकी हान बुद्धि पैदा होती है। वस्तु यदि हितकारी प्रतीत होती है तो वह उसे ग्रहण कर लेता है अर्थात् उस वस्तु के प्रति उसकी उपादान बुद्धि पैदा होती है तथा उस वस्तु से यदि उसका कोई प्रयोजन नहीं होता तो, वह उसकी उपेक्षा कर देता है, अर्थात् उसके प्रति तटस्थ (मध्यस्थ) बुद्धि रखता है।

मति, श्रुत आदि ज्ञानों में हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियाँ फल होती हैं तथा केवलज्ञान का फल मात्र उपेक्षा बुद्धि ही है, क्योंकि केवलज्ञान वीतरागी होते हैं अतः उनके राग-द्वेष से होने वाली हान-उपादान बुद्धि नहीं होती।

जैसा कि न्यायावतार में लिखा है—

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है। केवलज्ञान का साक्षात् फल उपेक्षा बुद्धि है तथा शेष मति, श्रुत आदि ज्ञानों का फल हान और उपादान बुद्धि है।

इस प्रकार प्रमाण का फल दो प्रकार का है—एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा गौण फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्परा फल हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है।

जैनदर्शन में प्रमाण और प्रमीति (फल) दोनों को ज्ञानरूप स्वीकार किया गया है। दोनों का ज्ञानात्मक स्वीकार करने पर यह समस्या उठती है कि प्रमाण एवं प्रमिति दोनों ही जब ज्ञानात्मक हैं तो उनमें फिर भेद क्या हुआ ? दोनों के ज्ञानात्मक होने से फिर तो उनमें अभेद ही होना चाहिए।

1.6 प्रमाण और प्रमिति का भेदाभेद—

जैनदर्शन अनेकांतवादी है अतः वह अनेकान्त के आधार पर प्रमाण और प्रमिति दोनों में न सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद अपितु भेदाभेद सिद्ध करता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यावसायी ज्ञान से अभिन्न प्रतीत होता है किन्तु प्रमाण जानने का साधन एवं अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यवसितिरूप

ज्ञान साध्य है। 'साध्यसाधनभावेन तयोर्भेदः'—साध्य और साधन भाव की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमिति (फल) भिन्न हैं। प्रमाण साधन है और प्रमिति साध्य है अतः दोनों में कथंचित् भेद है।

प्रमाण और प्रमिति दोनों ज्ञानात्मक हैं और ज्ञानात्मक होने के कारण यदि उनमें एकान्त अभेद माना जाये तो या तो साधन (प्रमाण) होगा या साध्य (प्रमिति) होगा। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं होगा। अतः प्रमाण और प्रमिति में एकान्त अभेद न होकर कथंचित् अभेद है। यद्यपि हान, उपादान और उपेक्षा-बुद्धिरूप फल की प्रतीति होती है, इसलिए उनमें कथंचित् अभेद भी है। एक ही प्रमाता में आत्मगत होने के कारण प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं। तात्पर्य यही है कि प्रमाणरूप में परिणित आत्मा ही फलरूप में परिणित होती है अतः एक प्रमाता की अपेक्षा से दोनों में अभेद घटित होता है।

जैन आचार्यों का यह मंतव्य है कि यदि प्रमाण और फल को कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न न माना जाये तो प्रमाण और फल की व्यवस्था ही नहीं बन सकती। जैन दर्शन में प्रमेय दो प्रकार के माने गये हैं—स्व एवं पर। जब ज्ञान ही प्रमेय हो तो वह 'स्व' तथा जब बाह्य पदार्थ प्रमेय हो तो उसे 'पर' कहा जाता है। ज्ञान को परप्रकाशक मानने के साथ-साथ स्वप्रकाशक भी माना गया है। इसलिए कभी ज्ञान भी प्रमेयरूप हो सकता है। ज्ञान को प्रमेय मान लेने पर प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति एवं प्रमाता सभी ज्ञानात्मक हो जाते हैं तथापि जैन दार्शनिक व्यवस्था की दृष्टि से इन चारों में साध्य, साधन, कार्य एवं कर्ता के रूप में कथंचित् भेद स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण से प्रमाण का फल न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है अपितु भिन्नाभिन्न है।

जैनदर्शन में ज्ञान को प्रमाण माना गया है और ज्ञान को ही फल माना गया है। इस दृष्टि से जैन चिंतकों ने अवग्रह आदि ज्ञान के भेदों में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था करते हुए लिखा है—'अवग्रहादीनां क्रमिकत्वात् पूर्व पूर्व प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्' अर्थात् अवग्रह आदि क्रमिक होते हैं इसलिए उनमें पूर्व-पूर्ववर्ती ज्ञान प्रमाण और उत्तर-उत्तरवर्ती ज्ञान फल होते हैं। जैसे—अवग्रह प्रमाण है और ईहा उसका फल है। इसी प्रकार ईहा प्रमाण और अवाय उसका फल, अवाय प्रमाण और धारणा उसका फल, धारणा प्रमाण और स्मृति उसका फल, स्मृति प्रमाण और प्रत्यभिज्ञान उसका फल, प्रत्यभिज्ञान प्रमाण और तर्क उसका फल तथा तर्क प्रमाण और अनुमान उसका फल है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है।

जैनदर्शन में प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति एवं गौण फल हान-उपादान-उपेक्षा बुद्धि माना गया है तथा प्रमाण एवं प्रमाण-फल में न एकान्त भेद और न एकान्त अभेद अपितु कथंचित् भेदाभेद माना गया है।

1.7 प्रमाता—

न्याय का चौथा अंग है—प्रमाता (आत्मा)। भारतीय दर्शन जगत् का प्राण तत्त्व है—आत्मा। आत्मा के अस्तित्व, उसके स्वरूप आदि के बारे में भारतीय चिंतकों ने प्रभूत विमर्श किया है। आत्मा को केन्द्र में रखकर दो प्रकार की विचारधाराएँ विकसित हुईं। एक वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करती है और दूसरी वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। चार्वाक के अतिरिक्त समस्त भारतीय चिंतकों ने आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया है। न्याययुग में आत्मा को ही प्रमाता के रूप में जाना गया है अर्थात् आत्मा के लिए प्रमाता शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रमाता को परिभाषित करते हुए कहा गया—'स्वपरावभासी परिणामी आत्मा प्रमाता। स्वपरावभासी प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा प्रमाता।' इन परिभाषाओं में प्रमाता के तीन लक्षण बताये गये हैं—

1. प्रमाता का स्व-परप्रकाशी होना।
2. प्रमाता का परिणामीनित्य होना।

3. प्रमाता का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान होना।

प्रमाता का स्व-परप्रकाशी होना-भारतीय दर्शन में आत्मा के स्वरूप के संबंध में दार्शनिकों में परस्पर मतभेद पाया जाता है। कुछ दर्शन जैसे-अद्वैत-वेदान्त, सांख्य-योग, बौद्ध आदि आत्मा को स्वप्रकाशी मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा स्वप्रकाशी है, पर-प्रकाशी नहीं। मीमांसा, न्याय-वैशेषिक आदि कुछ दर्शन आत्मा को परप्रकाशी मानते हैं, स्वप्रकाशी नहीं। स्वप्रकाशी से तात्पर्य अपने आपको जानने वाला तथा परप्रकाशी से तात्पर्य दूसरों को जानने वाला है। जैन दर्शन से इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया और आत्मा को न केवल स्वप्रकाशी और न केवल परप्रकाशी अपितु स्वपरप्रकाशी माना। इस विषय में उनका अभिमत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान स्व-परप्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व-परप्रकाशक है। जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और दूसरे पदार्थों—घट-पट आदि को भी प्रकाशित करता है अतः वह स्व-परप्रकाशी होता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करने के कारण स्व-परप्रकाशी है। जो स्वप्रकाशी नहीं होता वह परप्रकाशी भी नहीं हो सकता। जैसे-घट, घट जड़ होने के कारण अपने आपको भी प्रकाशित नहीं कर सकता और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण स्व-परप्रकाशक है। अतः सूत्र में स्वपरावभावी या स्वपरप्रकाशी विशेषण उन लोगों के मत का खण्डन करने के लिए है, जो आत्मा को केवल स्वप्रकाशी या केवल परप्रकाशी मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाता स्व-परप्रकाशी है।

1.8 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—प्रमेय किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2—प्रमेय के कितने रूप बनते हैं ?

प्रश्न 3—प्रमाण के कितने फल माने हैं? उनके लक्षण लिखो।

पाठ-2— विभिन्न मतानुसार प्रमाण का लक्षण

2.1 भाट्टों के प्रमाण लक्षण की समीक्षा—

पहले नहीं जाने हुए यथार्थ अर्थ का निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। ऐसी भाट्टमीमांसकों की मान्यता है। किन्तु उनका यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा प्रमाणरूप में माने गये धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं है। यदि तुम यह कहो कि धारावाहिक ज्ञान अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को विषय करते हैं, इसलिए अपूर्वार्थ विषयक ही हैं। तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्षण अत्यंत सूक्ष्म हैं। इन क्षणों का जानना संभव नहीं है। अतः धारावाहिक ज्ञानों में उक्त लक्षण की व्याप्ति निश्चित है।

2.2 प्रभाकर के प्रमाण लक्षण की समीक्षा—

प्रभाकर मतानुयायी 'अनुभूति को प्रमाण' कहते हैं, किन्तु उनका भी यह लक्षण युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि 'अनुभूति' शब्द को भाव साधन करने पर करणरूप प्रमाण में अव्याप्त रहता है एवं अनुभूति शब्द को करण साधन करने पर भावरूप प्रमाण में अव्याप्ति दोष आता है। चूँकि करण और भाव दोनों को ही उनके यहाँ प्रमाण माना गया है। जैसा कि 'शालिकानाथ ने कहा है'—यदाभावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्ममनः सन्निकर्षः।

जब प्रमाण शब्द को 'प्रमितिः प्रमाण' इस प्रकार भाव साधन किया जाता है उस समय 'ज्ञान' ही प्रमाण होता है और 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं' जिसके द्वारा जाना जाये वह प्रमाण है, ऐसा करण साधन करने पर 'आत्मा और मन का सन्निकर्ष प्रमाण होता है। अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष स्पष्ट है। इसलिए यह लक्षण भी सुलक्षण नहीं है।

2.3 नैयायिकों के प्रमाण लक्षण की समीक्षा—

प्रमा के प्रति जो करण है वह प्रमाण है। ऐसी नैयायिकों की मान्यता है किन्तु उनकी यह मान्यता भी प्रमादकृत ही है, क्योंकि उनके द्वारा प्रमाणरूप से माने गये ईश्वर में ही वह लक्षण अव्याप्त है। कारण 'महेश्वर' प्रमाण का आश्रय है करण नहीं है। ईश्वर को प्रमाण मानने पर यह कथन हम अपनी ओर से आरोपित नहीं कर रहे हैं किन्तु उनके प्रमुख 'आचार्य उदयन' ने स्वयं स्वीकार किया है।

अर्थात् "वह महेश्वर मेरे प्रमाण हैं" इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए कोई इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि जो प्रमा का साधन हो अथवा प्रमाण का आश्रय हो वह प्रमाण है।

किन्तु उनका यह व्याख्यान भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि प्रभा के साधन और प्रभा के आश्रय में से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण ही परस्पर में अव्याप्ति होती है। जब प्रमा के साधन को प्रमाण का लक्षण किया जावेगा, तब 'प्रमा के आश्रय रूप' प्रमाण लक्ष्य में लक्षण नहीं रहेगा और जब 'प्रमा के आश्रय को' प्रमाण का लक्षण माना जायेगा, तब 'प्रमा के साधनरूप' प्रमाण लक्ष्य में लक्षण घटित नहीं होगा तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनों को सभी लक्ष्यों का लक्षण माना जाये, तो कहीं भी लक्षण नहीं जायेगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रभा के आश्रय हैं प्रभा के साधन नहीं है क्योंकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमा का साधन भी हो और प्रमा का आश्रय भी हो, ऐसा कोई प्रमाण लक्ष्य नहीं है अतः नैयायिकों का उक्त लक्षण सदोष है।

इस प्रकार से कोई-कोई ज्ञान को अस्वसंविदित-स्व को नहीं जानने वाला कहते हैं। कोई गृहीत अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, कोई निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण कहते हैं कोई संशय को, कोई विपरीत को, कोई अनध्यवसाय को ही प्रमाण कह देते हैं किन्तु ये प्रमाण नहीं है प्रत्युत प्रमाणाभास ही हैं।

2.4 जैनाचार्यों की मान्यता—

जैनाचार्यों द्वारा मान्य 'सम्यग्ज्ञान' ही प्रमाण है वही हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ है अन्य नहीं है।

पदार्थ और प्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है क्योंकि वे विषय है जैसे अंधकार। ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी उस पदार्थ को प्रकाशित कर देता है जैसे कि दीपक अर्थ—घट, पट आदि से उत्पन्न न होकर भी उनको प्रकाशित कर देता है।

जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान न तो अर्थ से उत्पन्न ही होता है न अर्थ के आकार का ही होता है फिर भी उसे जान लेता है, क्योंकि पदार्थ के साथ ज्ञान का कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है, कि जहाँ पर पदार्थ हों, वही पर ज्ञान होवे और पदार्थ के अभाव में ज्ञान का अभाव रहे। अतः ज्ञान तो आत्मा का गुण है।

जैनाचार्य द्वारा मान्य 'विशदं प्रत्यक्षं' यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण ही सुसंगत है, ऐसा समझना चाहिए।

2.5 ज्ञानाभास एवं अन्य आभास—

जो ज्ञान प्रत्यक्ष आदि के सदृश मालूम पड़ें या कहे जावें किन्तु प्रत्यक्ष आदि रूप न हों वे ज्ञान ज्ञानाभास कहलाते हैं ऐसे ही सभी में आभास को लगाकर सभी को समझ लेना।

प्रत्यक्ष प्रमाणाभास का लक्षण—अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है जैसे बौद्ध अकस्मात् धूम को देखकर अग्नि के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।

परोक्षाभास का स्वरूप—स्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहना परोक्षाभास है, जैसे मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानता है। वास्तव में करण ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसको परोक्ष मानना परोक्षाभास है।

स्मरणाभास का लक्षण—जिस पदार्थ को पहले कभी धारणारूप अनुभव नहीं हुआ था, उसके अनुभव को स्मरणाभास कहते हैं। अथवा जो वस्तु 'वह' नहीं है उसे 'वह' कहकर स्मरण करना स्मरणाभास है। जैसे जिनदत्त का स्मरण करके कहना कि वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप—सदृश में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान तथा उसी में यह उसके सदृश है, ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे एक साथ जन्में दो बालकों में उल्टा ज्ञान हो जाता है।

तर्काभास का लक्षण—अविनाभाव रहित ज्ञान में अविनाभाव का ज्ञान या जिन पदार्थों में परस्पर में व्याप्ति नहीं है, उनमें व्याप्ति का ज्ञान होना तर्काभास है। जैसे किसी के एक पुत्र को काला देखकर व्याप्ति बनाना कि इसके जितने पुत्र होंगे, वे काले ही होंगे इत्यादि ज्ञान तर्काभास है।

अनुमानाभास का लक्षण—अनुमान के अवयवों का आभास दिखलाने से अनुमानाभास सिद्ध हो जावेगा।

अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्षाभास कहते हैं। अर्थात् साध्य के तीन विशेषण थे इष्ट, अबाधित और असिद्ध। इनके उल्टे पक्षाभास बन जाते हैं। क्योंकि साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान का नाम ही अनुमान है।

अनिष्ट—जो अपने को इष्ट नहीं है उसे साध्य की कोटि में रखना।

बाधित—जो प्रत्यक्ष आदि से बाधित हो, उसे साध्य की कोटि में रखना।

सिद्ध—सिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास करना। इसमें बाधित पक्षाभास के पाँच भेद माने गये हैं।

बाधित के भेद—बाधित पक्षाभास के पाँच भेद हैं। प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित।

प्रत्यक्षबाधित का दृष्टान्त—अग्नि ठंडी होती है, क्योंकि वह द्रव्य है जैसे जल। यहाँ अग्नि को ठंडी कहना

स्पर्शन इन्द्रिय के प्रत्यक्ष से बाधित है क्योंकि छूने से अग्नि गरम होती है।

अनुमान बाधित—“शब्द नित्य होता है क्योंकि किया हुआ है जैसे घट”। यह अनुमान बाधित पक्ष है क्योंकि ऐसा भी अनुमान कहा भी जा सकता है कि “शब्द अनित्य होता है क्योंकि वह किया गया होता है जैसे घट।” इस अनुमान से बाधा आ सकती है।

आगम बाधित—धर्म परलोक में दुःखदायी होता है क्योंकि वह पुरुष के आश्रित होता है। जो-जो पुरुष के आश्रित होता है वह दुःखदायी होता है जैसे अधर्म। यह पक्ष आगम से बाधित है क्योंकि आगम में धर्म को सुखदायी माना है और अधर्म को दुःखदायी कहा है। यद्यपि दोनों ही पुरुष के आश्रित हैं फिर भी भिन्न स्वभाव वाले हैं।

लोक बाधित—मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र होता है क्योंकि वह प्राणी का अंग है। जो-जो प्राणी का अंग होता है, वह-वह पवित्र होता है जैसे-शंख और सीप। यह पक्ष लोक बाधित है क्योंकि लोक में प्राणी का अंग होते हुए भी कोई चीजें पवित्र और कोई अपवित्र मानी गयी हैं।

स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण—मेरी माता बंध्या है क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है, जैसे कि प्रसिद्ध बंध्या स्त्री। यह पक्ष अपने ही वचनों से बाधित है क्योंकि स्वयं पुत्र मौजूद है और माता भी कह रहा है। फिर भी ‘मेरी माता बंध्या है यह कथन स्ववचन बाधित है।

इन पाँच प्रकार से बाधित विषयों को पक्ष की कोटि में रखना बाधित पक्षाभास दोष है।

2.6 साधनाभास—

हेत्वाभास के भेद—हेत्वाभास के चार भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर।

असिद्ध हेत्वाभास—जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध ऐसे दो भेद हैं।

विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य से विपरीत-विपक्ष के साथ जिस हेतु का रहना हो, वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे “शब्द नित्य है क्योंकि किये हुए हैं” यहाँ यह कृतकत्व हेतु नित्य से विरुद्ध अनित्य में रहता है। अतः विरुद्ध हेतु है।

अनैकांतिक हेत्वाभास—जो पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी चला जाता है, वह अनैकांतिक हेत्वाभास है। इसे व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं। इसके शंकित विपक्षवृत्ति और निश्चितविपक्षवृत्ति ऐसे दो भेद हैं।

शंकितविपक्षवृत्ति—‘नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्’ सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह वक्ता है यहाँ वक्ता है यह हेतु रह जावे और सर्वज्ञत्व भी रह जावे, इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है अतः यह हेतु शंकित व्यभिचारी है क्योंकि इसकी विपक्ष में रहने में शंका है।

निश्चितविपक्षवृत्ति—“शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट” यहाँ प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में और सपक्ष घट में रहता हुआ विपक्षरूप नित्य आकाश में भी चला जाता है अतः निश्चित व्यभिचारी हेतु है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास—साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि से बाधित होने पर जो हेतु कुछ नहीं कर सकता है, इसलिए वह अकिंचित्कर हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-शब्द श्रवण इन्द्रिय का विषय है क्योंकि वह शब्द है। यहाँ शब्दत्व हेतु सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। अथवा ‘अग्नि ठण्डी है क्योंकि वह द्रव्य है’ इसमें द्रव्यत्व हेतु प्रत्यक्ष से ही बाधित है। अतः ऐसे हेतु अकिंचित्कर होते हैं।

ऐसे ही अन्वय, व्यतिरेक दृष्टान्तों का विपरीत प्रयोग करना दृष्टान्ताभास कहलाता है। अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं—साध्य विकल, साधनविकल और उभयविकल। तीनों का उदाहरण—“शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे—इन्द्रिय सुख, परमाणु और घट।”

यहाँ दृष्टान्त में इन्द्रिय सुख पुरुषकृत है अतः अपने अपौरुषेय साध्य में न रहने से ‘साध्य विकल’ है। परमाणु

मूर्तिक है, वह अमूर्तिक हेतु में नहीं रहता है अतः यह दृष्टांत 'साधन विकल' है।

घट पुरुषकृत और मूर्तिक है। वह अपौरुषेय साध्य और अमूर्तिक हेतु नहीं रहता है अतः यह साध्य-साधन विकल दृष्टान्त है।

व्यतिरेक दृष्टांताभास के भी तीन भेद हैं-

“शब्द अपौरुषेय होता है क्योंकि वह अमूर्त है, जो-जो पौरुषेय होता है वह अमूर्तिक नहीं होता है। जैसे परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश।”

यहाँ परमाणु असिद्धसाध्य व्यतिरेक है, क्योंकि वह अपौरुषेय है। इसलिए परमाणु के अपौरुषेयपना का साध्य से व्यतिरेक नहीं हुआ। ऐसे ही इन्द्रियसुख असिद्ध साधन व्यतिरेक है। एवं आकाश असिद्ध साध्य-साधन व्यतिरेक है।

बाल प्रयोगाभास का लक्षण—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन बालकों को बोध कराने के लिए शास्त्र में अनुमान के ये पाँच अवयव माने गये हैं। इनमें से कुछ कम अवयवों का प्रयोग करना गलत है। अतः बाल प्रयोगाभास कहलाता है।

आगमाभास का लक्षण—रागी, द्वेषी, अज्ञानी, मोही, पुरुषों के वचनों से होने वाले आगम—शास्त्र को आगमाभास कहते हैं।

आगमाभास के उदाहरण—जैसे कि हे बालकों! दौड़ों, नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर लगे हैं, ऐसे वचन आगमाभास है। अथवा अंगुली के अग्रभाग पर सौ हाथी ठहरे हैं यह भी अनाप्त वचन हैं इन सब में विसंवाद देखा जाता है अतः ये सब आगमाभास हैं।

2.7 प्रमाण के विषयाभास का लक्षण—

केवल एक सामान्य को ही ज्ञान का विषय मानना या केवल विषय को ही मानना अथवा दोनों रूप पदार्थ को ही स्वतंत्रता से प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है यह बात पहले कही जा चुकी है। एवं प्रत्येक ज्ञान भी उभयात्मक वस्तु को ही जानता है तभी वह प्रमाण कहलाता है। अन्यथा अप्रमाण कहलाता है। सांख्य पर्याय रहित केवल द्रव्य-सामान्य को ही ज्ञान का विषय कहता है। नैयायिक व वैशेषिक सामान्य-विशेष स्वरूप पदार्थ को मानकर भी सामान्य और विशेष को एक-दूसरे की सहायता से रहित स्वतंत्रता से प्रमाण का विषय मानते हैं, इसलिए वे सब विषयाभास हैं क्योंकि प्रमाण का विषय परस्पर सापेक्ष उभयात्मक है।

2.8 प्रमाण के फलाभास का वर्णन—

प्रमाण से उसके अज्ञान निवृत्ति आदि फल को सर्वथा भिन्न ही मानना या सर्वथा अभिन्न ही मानना प्रमाण फलाभास है, क्योंकि कथंचित् जिसके ज्ञान प्रकट होता है उसी का अज्ञान का अभाव, त्याग आदि फल मिलते हैं तथा कथंचित् ये फल नाम, लक्षण आदि से भिन्न भी हैं। अतः एकांत मान्यता ही आभास कहलाती है।

2.9 तर्क का उदाहरण—

जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है अर्थात् किसी स्थान में धूम के होने का सद्भाव देखा पुनः-पुनः देखकर यह निश्चय किया कि किसी क्षेत्र और किसी काल में भी धूम अग्नि से व्यभिचरित नहीं होती है। इस प्रकार सब देश, काल के उपसंहारपूर्वक अर्थात् सामान्यरूप से होने वाले साध्य साधन संबंधी ज्ञान को तर्क कहते हैं यह प्रत्यक्षादि से भिन्न है।

शंका—प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाला विकल्प ज्ञान व्याप्ति को ग्रहण करता है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रश्न उठता है कि वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण। यदि अप्रमाण है तो उस विकल्प से ग्रहण की गई व्याप्ति में किस प्रकार विश्वास हो सकता है। यदि प्रमाण है तो प्रत्यक्ष है या अनुमान। प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते, क्योंकि उसका प्रतिभास स्पष्ट नहीं है। अनुमान भी नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें लिंग, दर्शनादि की अपेक्षा नहीं है अतः वह विकल्प प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न तीसरा तर्क नाम का प्रमाण है।

2.10 अनुमान आदि के लक्षण एवं भेद—

साधन से उत्पन्न हुए साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

नैयायिक के अनुमान का लक्षण—लिंग के 'परामर्शात्मक' ज्ञान को अनुमान कहते हैं किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। जैन ऐसा कहते हैं कि जैसे स्मृति आदि की उत्पत्ति में अनुभव आदि कारण हैं उसी प्रकार अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में व्याप्ति स्मरण के साथ-साथ उत्पन्न हुआ लिंग परामर्श ज्ञान का कारण है; न कि अनुमान है।

साधन का लक्षण—जिसका साध्य के बिना न होना निश्चित है उसे साधन कहते हैं।

साध्य का लक्षण—जो शक्य तथा अप्रसिद्ध एवं अभिप्रेत है उसे साध्य कहते हैं।

जिसमें प्रत्यक्षादि से बाधा न आवे उसे शक्य कहते हैं।

जिसमें संदेह आदिक मौजूद हों उसे अप्रसिद्ध कहते हैं।

जो वादी को अभिमत हो उसे अभिप्रेत करते हैं।

अतः अविनाभाव ही है मुख्य लक्षण जिसका ऐसे साधन से उत्पन्न हुए शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध- रूप साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। उस अनुमान के दो भेद हैं—1. स्वार्थानुमान 2. परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान का लक्षण—स्वयं ही निश्चित साधन से उत्पन्न हुए साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है धूम वाला होने से। स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं—1. धर्मी 2. साध्य 3. साधन।

साधन तो गमक अर्थात् ज्ञान कराने वाला है। साध्य गम्य अर्थात् जानने योग्य है एवं धर्मी साध्यरूप धर्म का आधार है इसीलिए ये तीनों स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं।

स्वार्थानुमान के और भी दो अंग हैं—1. पक्ष 2. साधन।

पक्ष का लक्षण—साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। धर्मी प्रसिद्ध होता है। धर्मी की प्रसिद्धि कहीं तो प्रमाण से और कहीं विकल्प से और कहीं प्रमाण और विकल्प से होती है।

परार्थानुमान का लक्षण—दूसरे का उपदेश सुनने से साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं।

शंका—नैयायिक कहता है कि दूसरे के वचन को ही परार्थानुमान कहते हैं ?

समाधान—किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि परोपदेश के वचन को गौणरूप से परार्थानुमान कह सकते हैं मुख्यरूप से नहीं।

उस परार्थानुमान प्रयोजक वचन के भी दो अंग हैं—1. प्रतिज्ञा 2. हेतु।

प्रतिज्ञा का लक्षण—धर्म और धर्मी के समुदायरूप पक्ष कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है।

हेतु का लक्षण—साध्य के बिना न होने वाले साधन को हेतु कहते हैं। जैसे—

1. अन्यथा यहाँ पर धूम नहीं हो सकता है।

2. अग्नि रहने पर ही धूम रह सकता है।

इन दोनों में से किसी एक ही हेतु का प्रयोग करना चाहिए।

नैयायिक परार्थानुमान प्रयोग के 5 अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

साधर्म्य उदाहरण का लक्षण—जो-जो धूमवान होता है वह-वह अग्निमान होता है जैसे—रसोईघर, यह अन्वयरूप उदाहरण है।

वैधर्म्य उदाहरण का लक्षण—जो-जो अग्निमान नहीं होता वह-वह धूमवान भी नहीं होता है, जैसे—तालाब, यह व्यतिरेकरूप उदाहरण है।

उपनय का लक्षण—दृष्टान्त की अपेक्षा से पक्ष और हेतु के दोहराने के वचन को उपनय कहते हैं। जैसे—यह भी उसी तरह धूमवान है।

निगमन का लक्षण—हेतुपूर्वक पक्ष के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे—इसीलिए यह अग्निमान है। ये परार्थानुमान के पांच अवयव हैं।

इनमें से एक के भी न होने पर वीतराग कथा हो या विजिगीषु कथा हो, कहीं भी अनुमान नहीं हो सकता। यह नैयायिकों की मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि वीतराग कथा में शिष्य के आशय के अनुसार यद्यपि अधिक अवयव माने जा सकते हैं तथापि विजिगीषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु इन दो ही अवयवों की आवश्यकता है।

विजिगीषु कथा का लक्षण—वादी और प्रतिवादी अपने-अपने मत का स्थापन करने के लिए जय-पराजय की अपेक्षा रखते हुए जो चर्चा करते हैं उसे विजिगीषु कथा कहते हैं।

वीतराग कथा का लक्षण—गुरु अथवा शिष्यजन अथवा विद्वान्जन तत्त्व निर्णय के लिए जो आपस में चर्चा करते हैं उसे वीतराग कथा कहते हैं।

शंका—कोई कहता है कि हेतु से ही अनुमान समझ में आ जावेगा प्रतिज्ञा की आवश्यकता नहीं है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि केवल हेतु का प्रयोग करने से विद्वान को भी साध्य में संदेह बना रह सकता है इसलिए प्रतिज्ञा का प्रयोग करना ही चाहिए अतः सारांश यह है कि वीतराग कथा में प्रतिज्ञा हेतुरूप दो अथवा तीन अथवा चार एवं पांच अवयवों का भी प्रयोग कर सकते हैं किन्तु विजिगीषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु इन दो ही अवयव का प्रयोग करना चाहिए।

नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं—

(1) पक्षधर्मत्व (2) सपक्षसत्त्व (3) विपक्षाद्व्यावृत्ति (4) अबाधित विषयत्व (5) असत्प्रतिपक्षत्व।

1. पक्ष के अन्दर हेतु के रहने को पक्षधर्मत्व कहते हैं।

2. जहाँ साध्य साधन दोनों उपलब्ध हों उस धर्मी को सपक्ष कहते हैं। उस सपक्ष के एकदेश में अथवा संपूर्ण देश में हेतु के रहने को सपक्षसत्त्व कहते हैं।

3. साध्य के विरुद्ध धर्म वाले स्थल को विपक्ष कहते हैं। ऐसे सम्पूर्ण विपक्षों से हेतु के सर्वथा अलग रहने को विपक्षाद्व्यावृत्ति कहते हैं।

4. साध्य से विपरीतपने को निश्चय कराने वाला प्रबल प्रमाण जिसमें सम्भव न हो उसे अबाधित विषयत्व कहते हैं।

5. समान बल के धारक ऐसे साध्य विपरीत निश्चायक किसी विरुद्ध प्रमाण का सम्भव न होना उसे असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं।

नैयायिक पंच अवयव वाला अनुमान

1. प्रतिज्ञा—यह पर्वत अग्निमान है।

2. हेतु—क्योंकि यहाँ पर धूम है।

अन्वय उदाहरण—जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि है। जैसे—रसोईघर।

व्यतिरेक उदाहरण—जहां-जहां अग्नि नहीं होती है वहां-वहां धूम भी नहीं होता, जैसे—तालाब।

4. उपनय—यह भी उसी प्रकार धूमवान है।

5. निगमन—इसलिए अग्निमान भी होना चाहिए।

यहां धूमवान हेतु पक्ष (पर्वत) में है, सपक्ष रसोईघर में है एवं विपक्ष तालाब में नहीं पाया जाता है। अबाधित विषय भी है और असत्प्रतिपक्षत्व भी है इसलिए साध्य की सिद्धि के लिए हेतु में पांच अवयव होना ही चाहिए। इन पांच अवयवों के विपरीत पांच हेत्वाभास हैं।

हेत्वाभास के भेद—1. असिद्ध 2. विरुद्ध 3. अनैकान्तिक 4. कालात्यापदिष्ट 5. प्रकरण सम।

असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण एवं उदाहरण—जिस पक्ष का हेतु में रहना निश्चित न हो उसे असिद्ध कहते हैं। जैसे—असिद्ध शब्द अनित्य है क्योंकि चक्षु इन्द्रिय का विषय है।

यह हेतु पक्ष धर्म में न रहने से हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण—जिस हेतु की साध्य से विपरीत के साथ व्याप्ति हो उसे विरुद्ध कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि किया हुआ है।

यहां पर 'किया हुआ' यह हेतु अनित्य के साथ व्याप्त है इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—व्यभिचार सहित हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है। यह प्रमेयत्व हेतु साध्यभूत अनित्य में और विपक्षभूत आकाश आदि नित्य में भी है अतः विपक्ष से व्यावृत्त न होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

कालात्यापदिष्ट हेत्वाभास—जिस हेतु का विषय किसी प्रमाण से बाधित हो उसे कालात्यापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—अग्नि ठंडी है क्योंकि वह पदार्थ है।

प्रकरण सम हेत्वाभास—जिसका विरोधी साधन मौजूद हो उस हेतु को प्रकरण सम हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि वह नित्य धर्म से रहित है।

नैयायिकों का यह सब कहना ठीक नहीं है क्योंकि कृतिकोदय हेतु पक्ष धर्म में न रहकर भी रोहिणी के उदय को सिद्ध करता है दूसरी बात यह है कि नैयायिक ने हेतु के तीन भेद माने हैं।

1. अन्वयव्यतिरेकी 2. केवलान्वयी 3. केवलव्यतिरेकी।

प्रथम भेद अन्वयव्यतिरेकी में पांचों अवयव पाये जाते हैं, शेष दो में पांचों अवयव नहीं पाये जाते फिर भी उसने उन्हें हेतु माना है।

अन्वयव्यतिरेकी का उदाहरण—शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है। जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है। जैसे—आकाश शब्द भी कृतक है इसलिए अनित्य ही है।

यहां पर कृतकत्व हेतु शब्दरूप पक्ष में एवं घटादि सपक्ष में रहता है तथा आकाशादि विपक्ष में नहीं रहता है।

केवलान्वयी का उदाहरण—जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहे किन्तु उसका विपक्ष कोई नहीं हो उसे केवलान्वयी कहते हैं। जैसे—अदृष्टादिक 'भाग्य' किसी के प्रत्यक्ष है क्योंकि अनुमेय है, जैसे—अग्नि आदि। यहां अनुमेयत्व हेतु का विपक्ष कोई है ही नहीं। पक्ष-सपक्ष में ही सारा विश्व आ गया अतः विपक्ष से व्यावृत्ति होना सम्भव नहीं है।

केवलव्यतिरेकी का उदाहरण—जो पक्ष में रहे और विपक्ष से व्यावृत्त हो किन्तु जिसका सपक्ष न हो। जैसे कि—जीवित का शरीर आत्मा कर सहित है क्योंकि उसमें स्वासोच्छ्वास है जो आत्मा कर सहित नहीं होता उसमें स्वांसादिक नहीं होता, जैसे—मिट्टी का ढेला।

यह स्वासोच्छ्वास आदि हेतु पक्ष में है और विपक्ष से व्यावृत्त है तथा सपक्ष सम्भव ही नहीं है।

अतः नैयायिक के द्वारा माने गए तीनों हेतुओं में दो हेतु उसी के कथन से दूषित हो जाते हैं।

तीनरूप और पांचरूप कर सहित अनुमान—गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला होना चाहिए क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह, इस मैत्री पुत्र हेतु में बौद्धों के तीनरूप और नैयायिकों के पांचरूप पाये जाते हैं परन्तु अन्यथानुपपत्ति एक लक्षण इसमें नहीं पाया जाता है अतः यह हेत्वाभास है।

हेतु के भेद—1. विधिरूप 2. प्रतिषेधरूप।

विधिरूप के दो भेद हैं—1. विधि साधक 2. प्रतिषेध साधक।

प्रतिषेधरूप के दो भेद हैं—1. विधि साधक 2. प्रतिषेध साधक। विधि साधक हेतु का दूसरा नाम अविरुद्धोपलब्धि भी है।

विधि साधक हेतु के भेद—विधिरूप हेतु के अनेक भेद हैं यहां पर 6 भेद बताये हैं।

1. कार्यरूप हेतु का उदाहरण—जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है धूम वाला होने से।

2. कारणरूप हेतु का उदाहरण—जैसे—वृष्टि होवेगी क्योंकि विशिष्ट मेघ हो रहे हैं।

विशेषरूप हेतु (व्याप्यरूप हेतु)—जैसे—यह वृक्ष है क्योंकि शीशमपना इसमें पाया जाता है। **पूर्वचररूप हेतु का उदाहरण**—जैसे—एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय होगा क्योंकि उसके पूर्वचर कृतिका का उदय हो रहा है।

उत्तरचररूप हेतु का लक्षण—जैसे—एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय हो चुका है क्योंकि कृतिका का उदय हो रहा है। यहां भरणी का उत्तरचर कृतिका का उदय है।

सहचररूप हेतु का उदाहरण—जैसे—इस बिजौर में रूप है क्योंकि रूप का सहचर हेतु रस पाया जाता है।

इस प्रकार से ये भावरूप पदार्थ को सिद्ध करते हैं इसलिए इनका अविरुद्धोपलब्धि भी नाम है।

विधिरूप हेतु के दूसरे भेद प्रतिसाधकरूप हेतु का दूसरा नाम विरुद्धोपलब्धि भी है।

विरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध साधक) का उदाहरण—इस प्राणी के मिथ्यात्व नहीं है क्योंकि यदि मिथ्यात्व होता तो आस्तिक्य नहीं हो सकता था। यहां आस्तिक्य हेतु निषेध साधक है। यह आस्तिक्य मिथ्यात्व में नहीं रह सकता। अरहन्त के द्वारा कथित तत्त्वों में रुचि होने को आस्तिक्य कहते हैं। अथवा दूसरा उदाहरण—वस्तु सर्वथा एकान्तरूप नहीं है क्योंकि सर्वथा एकान्तरूप हो तो अनेकात्मकता बन नहीं सकती।

अनेकान्त का लक्षण—सम्पूर्ण जीवादि पदार्थों में भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्मों के रहने को अनेकान्त धर्म कहते हैं।

प्रतिषेधरूप साधक के दो भेद—1. विधि साधक 2. प्रतिषेध साधक

प्रतिषेधरूप विधि साधक का उदाहरण—इस प्राणी के सम्यक्त्व है क्योंकि इसको विपरीत दुराग्रह नहीं है। विपरीत दुराग्रह न होना प्रतिषेधरूप है। वह सम्यक्त्व के सद्भाव को सिद्ध करता है इसलिए ये प्रतिषेधरूप साधक है।

प्रतिषेधरूप प्रतिषेध का उदाहरण—यहां पर धूम नहीं है क्योंकि अग्नि नहीं दिखती है यह अग्नि अभाव हेतु अभावरूप है और अभावरूप ही धूम के अभाव को सिद्ध करता है इसलिए यह प्रतिषेधरूप प्रतिषेध साधक है।

हेत्वाभास का लक्षण और उसके भेद—हेतु के लक्षण से रहित किन्तु हेतु के समान मालूम पड़े उसे हेत्वाभास कहते हैं।

1. असिद्ध 2. विरुद्ध 3. अनैकान्तिक 4. अकिंचित्कर

असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण—जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित है उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—1. स्वरूपसिद्ध 2. संदिग्धासिद्ध।

विरुद्ध का लक्षण—जिस हेतु की विरुद्ध के साथ व्याप्ति हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

अनैकान्तिक का लक्षण—जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—1. निश्चित विपक्ष वृत्ति 2. शंकित विपक्ष वृत्ति।

अकिंचित्कर का लक्षण—जो हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है उसे अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—1. सिद्ध साधन 2. बाधित विषय।

बाधित विषय के पांच भेद हैं—1. प्रत्यक्ष बाधित 2. अनुमान बाधित 3. आगम बाधित 4. लोक बाधित
5. स्ववचन बाधित।

उदाहरण का लक्षण—दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(1) अन्वय दृष्टान्त।
(2) व्यतिरेक दृष्टान्त।

उदाहरणाभास का लक्षण—जो उदाहरण के लक्षण से रहित है और उदाहरण के समान दिखता है उसे उदाहरणाभास कहते हैं।

उदाहरणाभास के भेद—1. अन्वय उदाहरणाभास 2. व्यतिरेकाभास।

उपनय का लक्षण—पर्व की दृष्टान्त के साथ साम्यता का कथन करना उपनय कहलाता है। जैसे—इसीलिए यह धूम वाला है।

निगमन का लक्षण—साधन को दोहराते हुए साध्य के निश्चयरूप वचन को निगमन कहते हैं। जैसे—यह धूम वाला होने से अग्नि वाला है।

इन दोनों का गलत उपयोग करने पर उपनयाभास और निगमनाभास होता है।

2.11 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—अनेकान्त का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 2—हेत्वाभास का लक्षण और उसके भेद बताओ ?

प्रश्न 3—अकिंचित्कर किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4—उदाहरणाभास के कितने भेद हैं ?

पाठ-3—सच्चे आप्त के संबंध में तर्कसंगत विवेचना

3.1 षड्दर्शन समुच्चय में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इनको षड्दर्शन कहा है। आगे चलकर नैयायिक और वैशेषिक दर्शनों को दो न कहकर एक कहने से आस्तिकवादी के पाँच ही दर्शन कह देते हैं एवं उसमें नास्तिक चार्वाक की संख्या मिलाकर 'षड्दर्शन' कहते हैं। इस षड्दर्शन में मीमांसक और वेदांती को भी एक ही में लिया है।

आगम का लक्षण—आप्त के वचनों से होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम कहते हैं।

3.2 सच्चे आप्त का लक्षण—

जो वीतरागी है, प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और परम हितोपदेशी है, वही आप्त है। समस्त पदार्थों का ज्ञाता कहने से श्रुतकेवली में लक्षण चला जाता इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान से ऐसा शब्द दिया है और परम हितोपदेशी पद से अरहन्त ही ग्रहण किए गए हैं, सिद्ध नहीं, क्योंकि वे अनुपदेशक हैं इसलिए गौणरूप आप्त हैं अतः नैयायिक आदि के द्वारा माने गए आप्त सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिए आप्ताभास हैं।

जैनधर्म में किसी को इस जैनधर्म का प्रवर्तक नहीं माना गया है क्योंकि यह जैनधर्म अनादि निधन धर्म है। अनादिकाल से जीव कर्मों का नाशकर सर्वज्ञ होते रहे हैं और वर्तमान से लेकर अनंतानंत काल तक सर्वत्र होते रहेंगे। जैन दर्शन में संसारपूर्वक-बंधपूर्वक ही मोक्ष माना गया है अतः संसारी जीव ही आत्मा की सर्वोच्च विशुद्धि प्राप्त करके भगवान बन जाते हैं, 'कर्मारतीन् जयतीति जिनः जिनो देवता अस्य स जैनः' जो कर्म शत्रुओं को जीतते हैं वे जिन कहलाते हैं एवं 'जिन' देवता जिसके उपास्य हैं वे जैन कहलाते हैं, यह धर्म 'अहिंसामय' है अतः 'सर्वेभ्यो हितः सार्वः' प्राणिमात्र का हितकारी होने से 'सार्वधर्म' कहलाता है। जिन भगवान के ही सार्व, सर्वज्ञ, अर्हंत, जिनेन्द्र, शिव, परमेश्वर, महेश्वर, महादेव आदि सार्थक नाम है। जैनधर्म में मनुष्य रत्नत्रय उपाय तत्त्व से मोक्षरूप उपेयतत्त्व को प्राप्त कर लेता है जैनधर्म में 'सभी वस्तुएँ द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं एवं पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं, सत् रूप-महासत्ता से एक एवं पृथक्-पृथक् अवांतरसत्ता से अनेक हैं, किन्तु इस मर्म-स्याद्वाद को न समझकर बौद्धों ने वस्तु को सर्वथा क्षणिक कह दिया है। सांख्य ने ही सर्वथा नित्य कह दिया है। वेदांती ने एक ब्रह्मरूप एवं अन्यों ने अनेक रूप कह दिया है। ऐसे ही कर्मों की विचित्रता से संसार का वैचित्र्य देखकर वैशेषिकों ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कह दिया है, किन्तु जैनाचार्यों ने सृष्टि को अनादिनिधन एवं जीव पुद्गल संयोग से उत्पन्न हुई सिद्ध किया है। मीमांसक ने वेद को अनादि कह दिया है किन्तु वास्तव में अर्थ की अपेक्षा आगम अनादि है एवं सर्वज्ञ की वाणी द्वारा गणधर ग्रथित होने से परम्परा कृत आचार्य प्रणीत होने से सादि भी हैं। अनेकांत शासन में कुछ भी दोष नहीं है। जैनाचार्यों ने इन ग्रंथों का अवलोकन केवल उनके तत्त्वों की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए ही किया है। जब बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्ति जैसे प्रखरतार्किकों की तूती बोलती थी, तो ब्राह्मण परम्परा में कुमारिल जैसे उद्भट विद्वानों की प्रतिध्वनि मंद नहीं हुई थी। दोनों ही विद्वानों ने अपनी-अपनी कृतियों में जैन परम्परा के मंतव्यों की खिल्ली उड़ाई थी और समंतभद्र जैसे तार्किकों का खण्डन किया था। उस समय अकलंक देव ने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लेकर बौद्धदर्शन आदि पढ़ने का संकल्प किया, उस समय श्री अकलंक देव ने न्याय प्रमाण विषयक अनेकों ग्रंथ रचे, लघीयस्त्रय, न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय, अष्टशती, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रंथों में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकों की एवं उद्योतकर भर्तृहरि कुमारिल जैसे ब्राह्मण तार्किकों की उक्तियों का निरसन करते हुए जैन मन्तव्यों की स्थापना तार्किक शैली से की है। इन अकलंकदेव से पूर्व श्री समंतभद्र स्वामी ने भगवान की स्तुति करते हुए न्याय का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। श्री उमास्वामी आचार्य के महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण पर आप्तमीमांसा स्तुति बनाकर तो एक अलौकिक प्रतिभाशाली

कहलाये हैं। श्री विद्यानंद महोदय ने आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा एवं अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिकालंकार टीका आदि ग्रंथों में न्याय का विशद वर्णन किया है। श्री माणिक्यनंदि के परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ पर प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि विस्तृत टीकाएँ हुई हैं। जैन न्याय का मतलब यही है कि 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए सभी शास्त्रकारों ने उसका यही अर्थ किया है 'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः न्यायकु। 'नितरामीर्यते गम्यते गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् ज्ञायंतेऽर्थाः अनित्यत्वास्ति-त्वादयोऽनेनेति न्यायः तर्कमार्गः। जिसके द्वारा विवक्षित अर्थ का ज्ञान हो, उसे न्याय कहते हैं। अतिशयरूप से जिसके द्वारा अनित्यत्व, अस्तित्व आदि अर्थ जाने जाये वह न्याय-तर्क मार्ग है। न्यायविनिश्चयालंकार में जैनाचार्यों ने भी विशेषरूप से कहा है कि-

'निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेति न्यायः।' जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तु तत्त्व का ज्ञान होता है, उसे न्याय कहते हैं। इसमें 'निर्बाध' पद जैन न्याय की निर्दोषता को प्रगट करता है। ऐसा ज्ञान प्रमाणों के द्वारा होता है। इसी से न्याय विषयक ग्रंथों का मुख्य विषय प्रमाण होता है प्रमाण के ही भेद प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि माने गये हैं, किन्तु प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा वस्तु तत्त्व को जानकर भी उसकी स्थापना और परीक्षा में हेतु और युक्तिवाद का अवलम्बन लेना पड़ता है। इसी से न्याय को तर्कमार्ग और युक्तिशास्त्र भी कहा है। जैनधर्म के बारहवें दृष्टिवाद अंग में 363 मिथ्यामतों का स्थापनापूर्वक खंडन किया गया है।

कल्याण के इच्छुक अज्ञानों के पूर्वोपार्जित पाप के उदय से एवं स्वयं कलिकाल के प्रभाव से गुण द्वेषी एकांतवादियों ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित हो करके हम उस मलिन किये गये न्यायशास्त्र को सम्यग्ज्ञानरूपी जल से किसी तरह प्रक्षालित करके निर्मल करते हैं। इसी भावना से ही श्री अकलंक देव ने जैनधर्म के स्याद्वाद की विजय पताका लहराई थी और आज भी वीरप्रभु का अनेकांत शासन जयशील हो रहा है। तीर्थंकर श्री वृषभदेव या महावीर प्रभु ने इस जैनधर्म की स्थापना नहीं की है, प्रत्युत सभी तीर्थंकर धर्मतीर्थ के प्रकाशक, उपदर्शक मात्र होते हैं, स्याद्वादमय धर्म तो वस्तु का स्वरूप होने से किसी के द्वारा प्रस्थापित नहीं है। जैनधर्म में वर्तमान में दो भेद दिख रहे हैं दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार, सवस्त्रमुक्ति आदि माने गये हैं, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियों को उसी भव से मुक्ति का निषेध, केवली के कवलाहार का निषेध एवं सवस्त्रमुक्ति का निषेध किया गया है।

जैनधर्म के मर्म को समझने के लिए महापुराण, पद्मपुराण, भद्रबाहुचारित्र आदि प्रथमानुयोग, तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, षड्खंडागम आदि करणानुयोग, रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनंदिश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धियुपाय, मूलाचार, आचारसार आदि चरणानुयोग एवं समाधितंत्र, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, समयसार आदि द्रव्यानुयोग ऐसे चारों अनुयोगों के ग्रंथों का गुरुमुख से पठन, स्वाध्याय करना चाहिए।

3.3 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-आगम और आप्त में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 2-जैनागम के मर्म को समझने के लिए किन ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रश्न 3-षड् दर्शनों में कौन-कौन से प्रमुख दर्शन समाविष्ट हैं ?

प्रश्न 4-जैन धर्म कब से प्रारंभ हुआ और इसके संस्थापक कौन थे ?

पाठ-4—ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खण्डन

4.1 वैशेषिक कहते हैं कि—सदाशिव नाम का एक महेश्वर है जो सदा ही मुक्त है, कभी भी कर्ममल से लिप्त नहीं था अनादिकाल से ही मुक्त है और सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता है।

शरीर, जगत, इन्द्रिय आदि विवाद की कोटि में आये हुए पदार्थ बुद्धिमान निमित्त कारण से हुए हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो कार्य होता है वह बुद्धिमान निमित्त कारण से ही होता है, जैसे वस्त्रादि और कार्य प्रकृत शरीर आदि हैं इसलिए बुद्धिमान निमित्त कारण से हुए हैं। जो बुद्धिमान उनका कारण है वे ईश्वर है। “इसलिए यह सिद्ध होता है कि अनादि सिद्ध ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का बनाने वाला है।

जैनाचार्यों का मत है कि शरीर जगत् और इन्द्रिय आदि बुद्धिमान कारण जन्य नहीं है, क्योंकि जिन मकानादि के कर्ता देखे जाते हैं। उनसे भिन्न हैं। जैसे आकाशादि।

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टिकर्ता शरीर सहित है या रहित ? यदि रहित कहो तो अन्य मुक्त जीवों के समान वह भी सृष्टि नहीं बना सकता। यदि शरीर सहित कहो, तो वह कर्मसहित होने से अज्ञानी संसारी प्राणी के समान सृष्टि नहीं कर सकेगा।

इन वैशेषिकों ने एक सदाशिव ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है, उसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ऐसी तीन शक्तियाँ मानी हैं। पुनः प्रश्न यह भी होता है कि कर्म के बिना इच्छा शक्ति कैसे होगी ? यदि ज्ञान शक्ति से ही सम्पूर्ण कार्य करना मानो, तो भी असंभव है। यदि वैशेषिक कहे कि—

जिस प्रकार से आप जैनों का जिनेश्वर बिना इच्छा के मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है, वैसे ही हमारा महेश्वर बिना इच्छा के सृष्टि बनावे क्या बाधा है ? जैन आचार्य ने कहा कि भाई! हमारे जिनेश्वर की तीर्थंकर नामा नाम कर्म विशेष से उपदेश में प्रवृत्ति होती है और वे तीर्थंकर तो कर्म सहित हैं शरीर सहित हैं। हाँ! मोहकर्म के नष्ट हो जाने से इच्छा रहित अवश्य हैं। पूर्णकर्म रहित सिद्धों को उपदेशक हम नहीं मानते हैं।

यदि आप भी ईश्वर के योग विशेष मानों तो शरीर अवश्य मानना पड़ेगा, पुनः प्रश्न माला चलती जायेंगी। वह सृष्टि रचने के पहला अपना शरीर बना लेता है या शरीर रहित ही सृष्टि बनाकर अपना शरीर बनाता है ? यदि कहो ईश्वर स्वयं अपना शरीर नहीं बनाता है वह स्वयं बन जाता है, तब तो जैसे ईश्वर की इच्छा और प्रयत्न के बिना उसका शरीर बन गया है, वैसे ही सारी सृष्टि बन जावे।

यदि ईश्वर अपने पूर्व शरीर का कर्ता पूर्व पूर्ववर्ती शरीर से होता है तब तो शरीर परम्परा अनादि सिद्ध होने से अनवस्था दोष आ जाता है एवं संसारी प्राणी और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं दिखता है। कार्मणशरीर से सहित ही संसारी प्राणी अनादि काल से शरीरों का निर्माण करता चला आ रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि उस ईश्वर का ज्ञान नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य कहो तो सारे कार्य एक साथ हो जावेंगे क्योंकि ज्ञान सदा काल एक नित्य है, अनित्य कहो तो भी अनेकों दूषण आते हैं। यहाँ ईश्वर का ज्ञान व्यापी है या अव्यापी ? स्वसंविदित है या अस्वसंविदित ?

वह ज्ञान महेश्वर से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि प्रश्न चलते ही रहेंगे।

वैशेषिक महेश्वर के ज्ञान को महेश्वर से भिन्न मानकर समवाय से महेश्वर को ज्ञानी कहता है तब आचार्य कहते हैं कि यह समवाय एक है तो यह समवाय महेश्वर में ही ज्ञान को जोड़े अन्यत्र आकाशादि में नहीं, ऐसा क्यों ? यदि कहो आकाश अचेतन है, ईश्वर चेतन है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आपने ईश्वर को चेतन नहीं माना है, चेतन के समवाय से ही चेतन माना है।

यदि कहो कि ईश्वर न ज्ञाता है न अज्ञाता। किन्तु ज्ञान समवाय से ज्ञाता है तब तो बताओ ईश्वर आत्मा है या नहीं ? तब उसने कहा—ईश्वर न आत्मा है न अनात्मा है। आत्मतत्त्व के समवाय से आत्मा है। तब तो बताओ उस आत्मतत्त्व समवाय के पहले वह क्या है ? द्रव्य है ? तब वह कहता है कि नहीं। ईश्वर न द्रव्य है न अद्रव्य है, द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य है तब प्रश्न होता है कि द्रव्यत्व समवाय के पहले वह सत् रूप तो अवश्य होगा? उसने कहा—नहीं। ईश्वर न स्वतः सत् है न असत् है सत्ता के समवाय से सत् है तब तो बड़ी आफत आ गई, सत्ता समवाय के पहले ईश्वर असत् ही रहेगा। अर्थात् उस ईश्वर का कुछ भी स्वरूप समझ में नहीं आता है। समवाय की सिद्धि तो असंभव है, क्योंकि जीव में या ईश्वर में ज्ञान समवाय के पहले वे ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी हैं तो समवाय ने क्या किया ? यदि अज्ञानी हैं तो पत्थर आदि अज्ञानी अचेतन में भी ज्ञान का समवाय क्यों नहीं होता है अतः समवाय संबंध नाम से तादात्म्य संबंध मानकर स्वरूप का स्वरूपवान् के साथ तादात्म्य ही स्वीकार करना चाहिए, अग्नि में उष्ण का, जीव में ज्ञान का जो तादात्म्य संबंध है, उसे ही समवाय भले ही कह दो।

इसलिए उपर्युक्त दोषों के निमित्त से आपका महेश्वर, देहसहित, कर्मसहित, सर्वज्ञ एवं मोहरहित सिद्ध नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टि क्यों बनाता है किसी अन्य पुरुष की प्रेरणा से, या दया से क्रीड़ा से या स्वभाव से ? यदि अन्य से प्रेरित होकर बनाता है तब तो उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। यदि दया से बनाता है तो उसने दुःखी प्राणी को क्यों निर्माण किये? यदि कहो पापियों को दण्ड देना पड़ता है तब तो उसने पाप की सृष्टि क्यों की ? परम पिता परमकारुणिक ईश्वर पाप और पापीजनों की सृष्टि बनाकर फिर उन्हें दुःख देवे यह तो उचित नहीं है। यदि कहो क्रीड़ा से सृष्टि का निर्माण करता है तब तो वह प्रभु महान् कैसे रहेगा, प्रत्युत् क्रीड़ा प्रिय होने से बालकवत् नादान समझा जावेगा। यदि कहो स्वभाव से वह सृष्टि का निर्माण करता है तब तो ईश्वर का स्वभाव नित्य है सदा काल है अतः सदा काल एक जैसी सृष्टि बनती रहेगी, तरह-तरह की विचित्रता का अनुभव नहीं होना चाहिए।

ईश्वर तो परम दयालु है, वह परोपकार के लिए ही प्रवृत्त होता है। यदि वह जगत् का कर्ता होता तो दुःख देने वाले शरीरादि की रचना न करता। यदि वह इस प्रकार की दुःखदायक सामग्री रचता है तो वह परमदयालु नहीं हो सकता।

ईश्वर प्रत्येक कार्य के लिए एकदेश से व्यापार करता है या सर्वात्मना व्यापार करता है ? यदि एकदेश से व्यापार करता है तो जितने कार्य हैं, उतने ही ईश्वर के अवयव होने चाहिए। और ऐसी स्थिति में ईश्वर को निरंश मानने की बात नहीं बनती। यदि ईश्वर प्रत्येक कार्य के लिए सर्वात्मना व्यापार करता है, जो जितने कार्य हैं उतने ही ईश्वर मानने होंगे, तब ईश्वर के एक होने की प्रतिज्ञा को क्षति पहुँचेगी तथा ईश्वर में रचने की इच्छा और संहार करने की इच्छा क्या एक साथ होती है या क्रम से। यदि एक साथ होती है, तो सृष्टि और संहार का एक साथ प्रसंग आता है। यदि क्रम से होती है तो उसका कारण बतालाइए। यदि वह कारण की अपेक्षा करती है, तो नित्य नहीं हो सकती।

नैयायिक—यद्यपि इच्छा, प्रयत्न आदि नित्य हैं, तथापि विचित्र सहकारियों के सान्निध्य से विचित्र कार्यों को करते हैं।

जैन—वे सहकारी उस ईश्वर के अधीन हैं या नहीं ? यदि नहीं हैं तो उन्हीं से कार्यत्व हेतु में व्यभिचार आता है। यदि ईश्वर के अधीन हैं तो वे सहकारी उसी समय क्यों नहीं होते ? यदि कहा जाता है कि उनके कारणों का अभाव है तो पुनः वही प्रश्न होता है कि वे कारण ईश्वर के अधीन हैं या नहीं, और इस प्रकार अनवस्था दोष आता है।

जगत् के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति अपनी रुचि के अनुसार होती है, या कर्म की परवशता से होती है, या करुणा से होती है, या धर्म आदि के प्रयोजन के उद्देश्य से होती है, या क्रीड़ा से होती है, या लोगों का निग्रह और अनुग्रह करने के लिए होती है, या स्वभाव से होती है ? यदि रुचि के अनुसार ईश्वर जगत् के निर्माण में प्रवृत्त होता है तो कभी सृष्टि बिलकुल विलक्षण भी हो सकती है। यदि ईश्वर कर्माधीन है तो उसकी स्वतन्त्रता में हानि आती है, ईश्वरत्व या स्वातन्त्र्य तो यही है कि अन्य किसी का मुख देखना न पड़े। यदि ईश्वर करुणावश जगत् की रचना करता है तो दयालु होने से एक

साथ सभी को ऐश्वर्यशाली बनाना चाहिए। तब संसार में कोई दुःखी ही न रहेगा, क्योंकि दयालु की यही दयालुता है कि दूसरों को दुःख का लेश भी न हो।

नैयायिक—पूर्व उपार्जित कर्मों के वश होकर ही प्राणी दुःख उठाते हैं, उसमें ईश्वर क्या कर सकता है ?

जैन—तब ईश्वर का क्या पौरुष रहा। कर्म तो उपभोग से ही क्षय होते हैं। यदि ईश्वर अदृष्ट की अपेक्षा करके जगत् का निर्माण करता है, तो ईश्वर को मानने से क्या लाभ है ? क्योंकि यदि ईश्वर अदृष्ट के अधीन है, तो जगत् को ही अदृष्ट के अधीन मान लेना चाहिए। इस अन्तर्गत ईश्वर से क्या लाभ ? यदि ईश्वर धर्म आदि प्रयोजन के उद्देश्य से जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति करता है, तो वह कृतकृत्य कैसे हो सकता है; क्योंकि जो कृतकृत्य हो जाता है, उसे धर्मादि का प्रयोजन नहीं रहता।

यदि ईश्वर क्रीड़ावश प्रवृत्ति करता है, जो वह साधारण जन की तरह ही हुआ, वीतराग कैसे हुआ ? ईश्वर परमपुरुष है और बच्चों की तरह क्रीड़ा करता है, यह तो महान् आश्चर्य है। इसी तरह यदि वह शिष्ट जनों के अनुग्रह और दुष्ट जनों के निग्रह के लिए प्रवृत्ति करता है, तो वह वीतराग और वीतद्वेष कैसे हुआ ? जैसे सूर्य स्वभाव से ही प्रकाशित होता है, वैसे ही ईश्वर यदि स्वभाव से ही जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति करता है, तो अचेतन से भी जगत् की प्रवृत्ति स्वभाव से ही हो, एक अधिष्ठाता की कल्पना से क्या लाभ है ? अनादिकाल से जगत् अपने स्वभाव से ही स्थित है। तथा बुद्धिमान् ईश्वर की बुद्धि नित्य है या अनित्य ? नित्य तो हो नहीं सकती, क्योंकि नित्यता अनुमान से भी और प्रतीति से भी बाधित है। यदि अनित्य है, तो किससे उस बुद्धि की उत्पत्ति होती है—इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से या समाधि—विशेष से या समाधि से उत्पन्न हुए धर्म के माहात्म्य से, या ध्यानमात्र से ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है; क्योंकि ईश्वर तो अशरीरी है, उसके मुक्तात्मा की तरह न तो मन है और न इन्द्रियाँ हैं। यदि हैं तो व सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान नियत अर्थ को ही जानता है।

समाधि—विशेष और अनुध्यान भी ज्ञानविशेष ही हैं और ईश्वर अभी तक भी असिद्ध है, तब स्वयं से स्वयं की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जब समाधि—विशेष ही असम्भव है, तो उससे उत्पन्न हुआ धर्म ईश्वर में कैसे हो सकता है, जिससे उसके माहात्म्य से ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव हो। तथा अशरीरी ईश्वर में समाधि भी कैसे सम्भव है ? अतः कारण के असम्भव होने से ईश्वर में ज्ञान का सद्भाव नहीं बनता। ऐसी स्थिति में ईश्वर में बुद्धिमत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

तथा ईश्वर को मानने में संसार का ही लोप हो जाता है; क्योंकि ईश्वर के व्यापार से पहले शरीर और इन्द्रिय वगैरह का अभाव होने से सब आत्माओं के बुद्धि आदि गुणों का भी अभाव होगा और शरीर, इन्द्रिय वगैरह के अभाव में तथा बुद्धि आदि विशेष गुणों के अभाव में आत्यन्तिक शुद्धि को प्राप्त आत्माओं को अमुक्त मानना युक्त नहीं है। इस प्रकार संसार की रचना में प्रवृत्त हुआ ईश्वर संसार का अभाव कर देता है, यह तो उसकी बड़ी भारी बुद्धिमत्ता है ? अतः योग के द्वारा माना गया ईश्वर समस्त जगत् का जनक नहीं हो सकता और इसलिए वह सर्वज्ञ भी सिद्ध नहीं होता।

इत्यादि अनेकों दोष आते हैं अतः ईश्वर को अनादि सिद्ध एवं सृष्टि का कर्ता मानना अनुचित है। यह संसारी प्राणी अनादिकाल से कर्म सहित होने से स्वयं ही पुण्य—पाप का कर्ता है और भोक्ता है। जब पुरुषार्थ से कर्मों का भेदन कर देता है तो ईश्वर महेश्वर, ब्रह्मा, महात्मा, परमात्मा, सिद्ध, शिव, अक्षय, अच्युत आदि अनेकों नाम से पूज्य बन जाता है। ईश्वर का अस्तित्व है, पर वह सृष्टि का रचयिता नहीं है।

4.2 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—ईश्वर सृष्टिकर्ता के संदर्भ में वैशेषिक का क्या मत है ?

प्रश्न 2—समवाय सम्बन्ध का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 3—ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने में जैनाचार्यों के मतानुसार कौन-कौन से दोष प्राप्त होते हैं?

इकाई-5

ज्ञान मीमांसा

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्न विषयों का विवेचन किया जा रहा है—

- (1) सम्यग्ज्ञान के भेद व मतिज्ञान
- (2) श्रुतज्ञान एवं श्रुतावतरण इतिहास
- (3) प्रत्यक्ष ज्ञान
- (4) चारों अनुयोगों की सार्थकता

पाठ-1 — सम्यग्ज्ञान के भेद व मतिज्ञान

1.1 सम्यग्ज्ञान का लक्षण—

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।

निःसदेहं वेद, यदाहुस्तजज्ञानमागमिनः॥

जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को, न्यूनता रहित, अधिकता से रहित विपरीतता रहित और संशय रहित ज्यों की त्यों जानता है। उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है।

1.2 सम्यग्ज्ञान के भेद—

इसके पाँच भेद बताये गये हैं।

मतिश्रुतावधिमानः पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच सम्यग्ज्ञान हैं।

इन्द्रियों और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मनन मात्र मतिज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है; जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुतज्ञान कहलाता है। अवाग्धान को अवधि कहते हैं।

अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से अवधि कहलाता है। देव अवधिज्ञान के द्वारा नीचे सप्तम नरक पर्यन्त देखते (जानते) हैं और ऊपर के भाग में अपने विमान के ध्वजदण्ड पर्यन्त ही जानते हैं—अतः अधःभाग का विषय अधिक है। अथवा परिमित विषय को जानता है अतः इसको अवधि कहते हैं। परिमित विषय क्या है? अवधिज्ञानरूपी पदार्थों को ही जानता है—अतः अवधि—मर्यादित पदार्थों को जानने वाला होने से अवधिज्ञान कहलाता है। मन का साहचर्य होने से दूसरों के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। मन का पर्ययण अर्थात् परिणमन करने वाले ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

यह मनःपर्ययज्ञान केवल क्षयोपशम शक्ति से अपना काम करता है तो भी केवल स्व और पर के मन की अपेक्षा उसका व्यवहार किया जाता है जैसे—आकाश में चन्द्रमा को देखो। यहाँ आकाश की अपेक्षा मात्र होने से ऐसा व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार मनोव्यापी अर्थ को मन कहकर मनःपर्ययज्ञान की व्युत्पत्ति होती है। जिसके लिए बाह्य और अभ्यन्तर तप के द्वारा मुनिजन मार्ग का केवन अर्थात् सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है। अथवा केवल शब्द असहायवाची है, इसलिए असहाय (बिना किसी सहाय्य के होने वाले) ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान की प्राप्ति सबसे अन्त में होती है अतः सूत्र में केवलज्ञान को अन्त में ग्रहण किया है। मनःपर्ययज्ञान के समीप में केवलज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए मनःपर्यय के समीप में केवलज्ञान को ग्रहण किया है।

इन दोनों का संयम ही एक आधार है, दोनों यथाख्यात चारित्र होने से होते हैं। केवलज्ञान से अवधिज्ञान को दूर रखा है।

प्रत्यक्ष तीन ज्ञान के पहले परोक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का कथन इसलिए किया है कि इन दोनों ज्ञानों की प्राप्ति सुगम है। सभी प्राणी दोनों ज्ञानों का अनुभव करते हैं। मति और श्रुतज्ञान की पद्धति श्रुतपरिचित और अनुभूत है। सर्व प्राणियों के द्वारा ये दोनों ज्ञान प्रायः करके प्राप्त किये जाते हैं। मति, श्रुत पद्धति के वचन से सुनकर उसके एक बार स्वरूप-संवेदन को परिचित कहते हैं। तथा अशेष-विशेष से बार-बार चित्त में उस स्वरूप की भावना करने को अनुभूत कहते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं। इनके भेद आगे कहेंगे।

इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। कोई इन्द्रिय को प्रमाण मानते हैं। परन्तु सन्निकर्ष या इन्द्रियादि प्रमाण नहीं हो सकते अतः इन्द्रिय और सन्निकर्ष की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए अधिकारप्राप्त मत्यादिक ज्ञान ही प्रमाण हैं, इस बात की सूचना करने के लिए यह सूत्र कहते हैं—

तत्प्रमाणे।

अर्थ—उपर्युक्त मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँचों ज्ञान ही प्रमाण हैं।

ऊपर कथित मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान ही प्रमाण हैं। ये प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा सर्व पदार्थों का सम्बन्ध नहीं होता है, सम्बन्ध नहीं होने से सर्व पदार्थ जाने नहीं जाते अतः सर्व पदार्थों को नही जानने से सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो सब को जानता है, वही सर्वज्ञ होता है। इन्द्रियाँ भी प्रमाण नहीं हो सकतीं, क्योंकि इन्द्रियों को प्रमाण मान लेने पर भी उपर्युक्त दोष आता है अर्थात् सर्वज्ञ का अभाव होता है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय अल्प है और ज्ञेय अनन्त होने से अपरिमित हैं अथवा सर्व इन्द्रियों के सर्व पदार्थों के सन्निकर्ष का अभाव भी है—क्योंकि चक्षु और मन प्राप्यकारी नहीं है। “न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां” इस सूत्र के द्वारा आगे चक्षु और मन के अप्राप्यकारित्व का वर्णन करेंगे।

राग-द्वेषरूप परिणामों का नहीं होना उपेक्षा है। अन्धकार के सदृश अज्ञान का नाश फल कहलाता है। अर्थात् किसी पदार्थ को जान लेने पर उस विषयक अज्ञान का दूर हो जाना ही प्रमाण का फल है।

प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—‘प्रमिणोति इति प्रमाणं-’ जो सम्यक् प्रकार से जानता है, वह प्रमाण है

प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद बताने के लिए “तत्प्रमाणे” सूत्र में दो वचन का प्रयोग किया है। इस सूत्र में “प्रमाणे” यह द्विवचन का प्रयोग अन्य वादियों के द्वारा परिकल्पित ज्ञान की संख्याओं का निराकरण करने के लिए भी जानना चाहिए।

जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को पृथक्-पृथक् प्रमाण माना है।

पर वस्तुतः इनका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण में ही हो जाता है। पहले कहे गये पाँच प्रकार के ज्ञान दो प्रमाणों में आ जाते हैं इस प्रकार सुनिश्चित हो जाने पर ही वे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक भी हो सकते हैं, अतः इस कल्पना को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

आद्ये परोक्षम्।

अर्थ—पहले के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, क्योंकि इन्द्रियों से होते हैं, इसलिए परोक्ष प्रमाण हैं।

आदि शब्द प्राथम्यवाची है, जो आदि में हो, वह आद्य कहलाता है। अतः आदि के मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष

कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा लेकर अक्षरूप आत्मा के इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपेदशादिक बाह्य निमित्तों की अपेक्षा से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं अतः ये परोक्ष कहलाते हैं। आचार्यदेव के “तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं” “श्रुतमनिन्द्रियस्य” इन सूत्रों से मति और श्रुतज्ञान परोक्ष सिद्ध होते हैं।

प्रत्यक्षमन्यत्।

अर्थ—शेष तीन अर्थात् अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। (क्योंकि ये ज्ञान पर निमित्त की अपेक्षा के बिना स्वयं आत्मा द्वारा होते हैं।)

अक्ष् शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। अक्ष् व्याप् और ज्ञा ये धातुएँ एकार्थक हैं इसलिए अक्ष का अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशम वाले अवधि, मनःपर्ययज्ञान या आवरणरहित केवलज्ञान आत्मा के प्रति जो नियमत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिक की अपेक्षा से न होकर केवल क्षयोपशमवाले या आवरण रहित आत्मा से होते हैं, वे अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं।

1.3 मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम—

मतिः स्मृति संज्ञाचिंताभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम्।

अर्थ—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इत्यादि मतिज्ञान के दूसरे नाम हैं।

मननं मतिः। स्मरणं स्मृति। संज्ञान संज्ञा। चिन्तनं—चिन्ता और अभिनिबोधनं अभिनिबोध यह इनकी व्युत्पत्ति है। जिस प्रकार इन्दन क्रीड़ा करनेवाला होने से इन्द्र, समर्थ होने से शुक्र, पुर—नगर आदि की रचना करने वाला होने से पुरन्दर कहलाता है। जिस प्रकार इन्दन आदि क्रिया की अपेक्षा भेद होने पर भी समभिरूढनय की अपेक्षा इन्द्र आदि शचीपति के ही नामान्तर हैं, उसी प्रकार मति आदि में नामभेद होने पर भी ये सब मतिज्ञान के ही भेद हैं, क्योंकि ये मति, स्मृति आदि अन्तरंग निमित्त मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर ही होते हैं। इनका विषय भी एक है और श्रुत आदि ज्ञानों में इनकी प्रवृत्ति नहीं होती है। ये सब मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम निमित्त होने वाले उपयोग का उल्लंघन नहीं करते हैं तथा मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध के द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह यद्यपि एक ही है तथापि भेद कहा जाता है। बहिरंग और अन्तरंग अर्थों को जो आत्मा स्फुटरूप से मानता है (जानता है) वह अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणात्मक मति कहलाती है। पाँच इन्द्रिय और मन से जो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाज्ञान होता है वह मति हैं। स्वसंवेदन और इन्द्रियज्ञान सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहे जाते हैं। तत् (वह) इस प्रकार अतीत अर्थ के स्मरण करने को स्मृति कहते हैं। ‘यह वही हैं’, यह उसके सदृश है,’ इस प्रकार पूर्व और उत्तर अवस्था में रहने वाली पदार्थ की एकता, सदृशता आदि के ज्ञान को संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) कहते हैं। किन्हीं दो पदार्थों में कार्यकारण आदि सम्बन्ध के ज्ञान को चिन्ता (तर्क) कहते हैं। जैसे—अग्नि के बिना धूम नहीं होता है, आत्मा के बिना शरीरव्यापार, वचन आदि नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार विचार कर उक्त पदार्थों में कार्य कारण सम्बन्ध का ज्ञान करना तर्क है। एक प्रत्यक्ष पदार्थ को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाले अप्रत्यक्ष अर्थ का ज्ञान करना अभिनिबोध (अनुमान) है, जैसे—पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान करना। आदि शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि को भी मतिज्ञान जानना चाहिए। दिन या रात्रि में कारण के बिना ही जो एक प्रकार का स्वतः प्रतिभास हो जाता है, वह प्रतिभा है। जैसे प्रातः मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा भाई आयेगा, आदि। अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं और पाठ को ग्रहण करने की शक्ति का नाम मेधा है। कहा भी है—भविष्यत् को जानने वाली मति कहलाती है, तत्कालदर्शिनी बुद्धि होती है, अतीत काल को जानने वाली प्रज्ञा और तीनों कालों को जानने वाली मेधा है।

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।

अर्थः—वह मतिज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है।

जो इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानता है उसे **मतिज्ञान** कहते हैं।

जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में लिंग अर्थात् कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे लोक में धूम अग्नि का ज्ञान कराने में कारण है। (वह अग्नि का लिंग है) उसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ आत्मा को ज्ञान कराने में कारण हैं, अतः वे आत्मा का लिंग हैं। जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के बिना इन्द्रियाँ नहीं होती—अतः ज्ञाता, कर्ता, आत्मा का अस्तित्व इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है। अथवा नामकर्म को इन्द्र कहते हैं और उस नामकर्मरूपी इन्द्र के द्वारा जो रची जाती हैं, वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। वे इन्द्रियाँ स्पर्शन आदि पाँच प्रकार की हैं—“स्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुश्रोत्राणि” अर्थात् स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत। अनिन्द्रिय मन और अन्तःकरण ये **एकार्थवाची** हैं।

1.4 मतिज्ञान के भेद-प्रभेद-**अवग्रहेहावायधारणाः।**

अर्थ—मतिज्ञान के अवग्रह (सामान्य अवलोकन), ईहा (विशेष विचार), अवाय (निर्णय) और धारणा (स्मरण शक्ति) ये चार मुख्य भेद हैं।

अवग्रहण को वा सामान्य ग्रहण को अवग्रह, उसको विशेष जानने की चेष्टा ईहा, निश्चय करना अवाय और जाने हुए को नहीं भूलना धारणा है। ये अवग्रहादि मतिज्ञान के चार भेद हैं। अवग्रह के पूर्व सन्निपातमात्र को दर्शन कहते हैं। अवग्रह तो मतिज्ञान का भेद है। सन्निपातलक्षण दर्शन के बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को अवग्रह कहते हैं।

विषय और विषयी का सन्निपात (सम्बन्ध) होने पर दर्शन होता है। उस दर्शन के पश्चात् जो अर्थ का ग्रहण होता है, वह **अवग्रह** कहलाता है, जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा यह ‘शुक्लरूप है’ ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों के विशेष को जानने की इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे जो मैंने शुक्लरूप देखा वह बलाका (मादा बगुला) है कि पताका (ध्वजा) है? इस प्रकार विशेष को जानने की इच्छा होना ईहा ज्ञान है। उसके पश्चात् यह उछल रही है, पंख को इधर—उधर फैला रही है, इससे जाना जाता है कि यह बलाका ही है, पताका नहीं है। इस प्रकार याथात्म्य का अवगमन—वस्तुस्वरूप का निर्धारण (निश्चय) **अवाय** ज्ञान कहलाता है। जानी हुई (सम्यक् प्रकार से परिज्ञात) वस्तु का जिस कारण से कालान्तर में विस्मरण होना नहीं उसे **धारणा** कहते हैं। जैसे—जो बलाका मैंने प्रातःकाल देखी थी, यह वही बलाका है, इस प्रकार का ज्ञान धारणा लक्षण ज्ञान है अर्थात् अवाय से जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलना ही धारणा है। धारणाज्ञान स्मृति का कारण है। इस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का उपन्यास क्रम किया है।

बहुबहुविधक्षिप्रानिः सृताऽनुक्तध्रुवाणां सेतराणां।

अर्थ—वह मतिज्ञान बहुत, बहुत प्रकार, क्षिप्र (शीघ्र), अनिःसृत (अप्रकट), अनुक्त (नहीं कहा हुआ), ध्रुव (स्थिर) तथा इन छहों के उल्टे प्रकार अर्थात् एक, एक प्रकार, अक्षिप्र, (धीमा), निःसृत (प्रकट), उक्त (कथित) और अध्रुव (अस्थिर) होता है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रियाविशेष वा क्रिया के भेद कहे हैं। उन ईहा आदि क्रियाओं की अपेक्षा बहु आदि को कर्म का निर्देश किया है—वा अवग्रह आदि ज्ञान के बहु आदि और उनसे विपरीत एकादि विषय (जानने योग्य) हैं। यहाँ **बहु** शब्द संख्यावाची और **वैपुल्यवाची** है, ऐसा जानना चाहिए। जैसे—संख्यावाची एक, दो, तीन, बहु आदि। **वैपुल्य** (परिणामवाची) जैसे बहुत से भात, बहुत सी दाल आदि। अनेक पदार्थों को **बहुविध** कहते हैं। जिसका

ज्ञान शीघ्र हो वह क्षिप्र है। जिस पदार्थ के एकदेश को देखकर सर्वदेश का ज्ञान हो जाता है वह अनिःसृत है। वचन से बिना कहे जिस वस्तु का ज्ञान हो जाय वह अनुक्त है। बहुत काल तक जिसका ज्ञान यथार्थ बना रहे वह ध्रुव है। एक पदार्थ का ज्ञान एक और एक प्रकार के पदार्थों के ज्ञान को एकविध ज्ञान कहते हैं। जिसका ज्ञान शीघ्र न हो वह अक्षिप्र है। प्रकट पदार्थों के ज्ञान को निःसृत कहते हैं। वचन को सुनकर अर्थ का ज्ञान होना उक्त है। जिसका ज्ञान बहुत समय तक एक सा न रहे, वह अध्रुव है। अतः इसका यह अर्थ है—बहु का अवग्रह, उससे विपरीत अल्प का अवग्रह है। बहुविध का अवग्रह, बहुविध का प्रतिपक्षीभूत— एकविध का अवग्रह, क्षिप्र का अवग्रह, अक्षिप्र का अवग्रह, अनिःसृत का अवग्रह, निःसृत का अवग्रह, ध्रुव का अवग्रह, अध्रुव का अवग्रह—इस प्रकार 12 प्रकार का अवग्रह है, बारह प्रकार की ईहा है। बारह प्रकार का अवाय और बाहर प्रकार का धारणा ज्ञान है। इन सब का जोड़ करने से $12 \times 4 = 48$ भेद होते हैं। इन अड़तालीस भेदों को पाँच इन्द्रियों और मन इन छह से गुणा करने पर $48 \times 6 = 288$ (दो सौ अठासी) भेद मतिज्ञान के होते हैं। इस प्रकार बहु आदि अवग्रह छह प्रकार के हैं। इन बहु आदि छह के प्रभेदों का ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के प्रकर्ष क्षयोपशम से होता है और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अप्रकर्ष से एक आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। वा क्षयोपशम मात्र से होता है। इसलिए पूज्य होने से बहु आदि को प्रथम ग्रहण किया गया है। क्योंकि कातन्त्र व्याकरण में पूज्य का ग्रहण प्रथम होता है। अतः बहु आदि श्रेष्ठ होने से बहु आदि को प्रथम ग्रहण किया है।

यदि अवग्रहादि ज्ञान बहुआदि विषयों के स्वीकार करने वाले होते हैं तो बहुआदि विशेषण किसके है ? ऐसा पूछने पर आचार्य सूत्र कहते हैं—

अर्थस्य।

अर्थ—उपर कहे गये मतिज्ञान के भेद अर्थ यानि पदार्थ के होते हैं।

चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत स्थिर और स्थूल पदार्थ को अर्थ कहते हैं। वा द्रव्य को भी अर्थ कहते हैं। बहु आदि विशेषणों से युक्त अर्थ के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान होते हैं, ऐसा सम्बन्ध लगाना चाहिए।

अब, अव्यक्त वस्तु का अवग्रह ही होता है—ईहा, अवाय, धारणा नहीं, इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

व्यञ्जनस्यावग्रहः।

अर्थः—व्यंजन पदार्थ (अर्थात् अव्यक्त अप्रगट रूप शब्दादि पदार्थों का अवग्रह ज्ञान होता है। (ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान नहीं होते)

व्यंजन (अव्यक्त शब्दादि पदार्थों) का अवग्रह ही होता है। वह अवग्रह बहु—बहुविध आदि के भेद से बारह प्रकार का है। बहु आदि बारह प्रकार के अव्यक्त पदार्थों का अवग्रह ज्ञान चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। अतः व्यञ्जनावग्रह मतिज्ञान के $12 \times 4 = 48$ भेद होते हैं और मतिज्ञान के पूर्वोक्त दो सौ अठासी भेद मिला देने से मतिज्ञान के कुल तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं।

अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ही होता है, ईहा, अवाय आदि नहीं होते हैं, इसप्रकार का नियम करने के लिए इस सूत्र की रचना की गई है। जैसे माटी का नवीन सकोरा जल के दो तीन कणों (बूंद) से सींचने पर गीला नहीं होता और पुनः पुनः सींचने पर वह धीरे—धीरे गीला हो जाता है, उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा गृहीत शब्दादिरूप से परिणत पुद्गल एक, दो, तीन आदि क्षणों में व्यक्त नहीं होते हैं, परन्तु पुनःपुनः ग्रहण करने पर (अवग्रह होने पर) व्यक्त हो जाते हैं। अतः जब तक व्यक्त अवग्रह नहीं होता है तब तक अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ही होता है। परन्तु उत्तर काल में व्यक्त हो जाने पर उसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान भी होते हैं।

सब इन्द्रियों के द्वारा समानरूप से व्यञ्जनावग्रह के प्राप्त होने पर जिन इन्द्रियों के द्वारा व्यञ्जनावग्रह सम्भव नहीं है,

उन दो इन्द्रियों का निषेध करने के लिए सूत्र कहा है कि—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।

अर्थ—चक्षु और मन के द्वारा व्यंजन अवग्रह नहीं होता है।

चक्षु और मन के द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है, क्योंकि चक्षु अप्राप्त, योग्य दिशा में अवस्थित, युक्त, सन्निकर्ष के योग्य देश में अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदि से व्यक्त पदार्थ को ही ग्रहण करती है और मन भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करता है, अतः चक्षु और मन के द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है।

इस प्रकार यहाँ इस पाठ में पाँच सम्यग्ज्ञानों के विषय में बतलाकर प्रथम मतिज्ञान के 336 भेद कहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ एवं उनकी टीकाओं से इनका विशेष वर्णन पठनीय है।

1.5 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2—ज्ञान के भेदों के नाम बताईये ?

प्रश्न 3—परोक्ष ज्ञान कौन कौन से हैं ?

प्रश्न 4—मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम बताईये।

प्रश्न 5—मतिज्ञान किसे कहते हैं ? इसके प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं ?

पाठ-2—श्रुतज्ञान एवं श्रुतावतरण इतिहास

2.1 मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से ज्ञान पाँच प्रकार का कहा गया है। “मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानिज्ञानम्” इति तत्त्वार्थसूत्रं। इन पाँच प्रकार के ज्ञानों में मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान,— ये चार ज्ञान स्वार्थ हैं। अर्थात् इन चार ज्ञानों के द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं, अनुभव में आते हैं, परन्तु इनके द्वारा दूसरों के लिये प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये वचनात्मक नहीं हैं। श्रुत ज्ञान स्वार्थ भी है तथा परार्थ भी है। श्रुतज्ञान वचनात्मक है, अतः इसके द्वारा तत्त्वार्थ का प्रतिपादन दूसरों के लिये भी कर सकते हैं।

सर्वज्ञ वीतरागी हितोपदेशी तीर्थंकर परमदेव की पुनीत दिव्य ध्वनि से जो तत्वों का उपदेश हुआ, उसको यथावत् हृदयंगम करके चार ज्ञान के धारक श्रुतकेवली गणधर परमदेव ने द्वादशांग रूप से उसका प्रतिपादन किया। आचार्य परम्परा से वही द्वादशांग ज्ञान अक्षुण्ण रूप से प्रतिपादित होता रहा। लेकिन कालान्तर में ज्ञान के क्षयोपशम की हीनता के कारण विस्मरण होने का प्रसंग आया तब परोपकारी आचार्यों ने उसे अक्षरों में लिपिबद्ध करके द्रव्य श्रुत रूप आगम की रचना की।

श्रुतं मतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेदम्।

अर्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और वह दो प्रकार का है। पहला अंग बाह्य अनेक भेद वाला और दूसरा अंग प्रविष्ट बारह भेद वाला है।

श्रुतज्ञान के मूल दो भेद हैं—एक अंगप्रविष्ट और दूसरा अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट आचारांग आदि के भेद से बाहर प्रकार का है। भगवान महावीर रूपी हिमाचल से निकली हुई वाग्गंगा के अर्थरूप जल से जिनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हैं, उन बुद्धि ऋद्धि के धनी गणधरों द्वारा ग्रंथ रूप में रचे गए आचारांग आदि बारह अंग हैं।

गणधर देव के शिष्य—प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु, बुद्धि बल वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रंथ अंगबाह्य हैं। कालिक, उत्कालिक आदि के भेद से अंग बाह्य अनेक प्रकार के हैं। स्वाध्यायकाल में जिनके पठन—पाठन का नियम है उन्हें कालिक कहते हैं तथा जिनके पठन—पाठन का कोई नियम समय न हो वे उत्कालिक हैं। उत्तराध्ययन आदि अंगबाह्य ग्रंथ हैं।

यह श्रवण, श्रुत, ज्ञानविशेष है, केवल श्रवण मात्र (सुनना मात्र) इसका अर्थ नहीं है अर्थात् ‘श्रुत’ शब्द सुनने, रूप अर्थ की मुख्यता से निष्पादित है तो भी रूढ़ि से उसका वाच्य कोई ज्ञान विशेष है। जैसे कुश को छेदता है, काटता है, वह कुशल होता है तथापि रूढ़िवश उसका अर्थ पर्य्यवदान (विमल, मनोज्ञ) क्षेम होता है—न कि कुश का काटना। उसी प्रकार ‘श्रवण’ ‘श्रुत’ है ऐसा कहने पर भी सिर्फ सुनना मात्र श्रुत नहीं है, परन्तु ज्ञानविशेष है। वह ज्ञानविशेष क्या है ? इस बात को ध्यान में रखकर ‘श्रुतं मतिपूर्व यह कहा है। मति है पूर्व निमित्त कारण जिसका वह मतिपूर्व कहलाता है। जो प्रमाण को पूरता है वह पूर्व कहलाता है, पूर्वशब्द की व्युत्पत्ति है। अथवा मतिज्ञान का लक्षण पूर्व में कह चुके हैं। वह मति जिसके पूर्व में हैं, वह मतिपूर्व श्रुत कहलाता है।

केवलज्ञानी भगवान महावीर के द्वारा कहे गये अर्थ—पदार्थ को उसी काल में और उसी क्षेत्र में क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न चार प्रकार के—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययरूप निर्मल ज्ञान से युक्त, ब्राह्मणवर्णी, गौतम गोत्री, अन्य मतावलम्बी वेद—वेदांग के पारंगत और जीव—अजीवविषयक संदेह को दूर करने के लिए श्रीवर्द्धमान तीर्थंकर के पाद—मूल में जाकर इन्द्रभूति ने केवलज्ञान से विभूषित उन भगवान महावीर के द्वारा कथित अर्थ को ग्रहण किया।

पुनः उन इन्द्रभूति ने भावश्रुतरूप पर्याय से परिणत होकर बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की रचना एक ही मुहूर्त में कर दी।

भट्टारक भगवान महावीर के उपदेश से श्रावण कृष्णा एकम् तिथि को पूर्वाण्हकाल में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। पुनः उसी दिन अपराण्ह काल में अनुक्रम से पूर्वों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया।

2.2 बारह अंगों के नाम—

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग, नाथधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तःकृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये द्वादशांग के नाम हैं।

1. **आचारांग**—अठारह हजार पदों के द्वारा मुनियों के आचार/आचरण/चर्या का वर्णन करने वाला पहला आचारांग श्रुत है। यथा—

शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! मैं कैसे विचरण करूँ ? कैसे ठहरूँ ? कैसे बैठूँ ? कैसे शयन करूँ ? कैसे भोजन करूँ ? और कैसे भाषण करूँ-बोलूँ ? जिससे पाप का बंध न हो।

तब आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! तू यत्नपूर्वक—सावधानीपूर्वक (समितिपालनयुक्त यत्नाचारपूर्वक) विचरण कर, यत्नपूर्वक ठहर, यत्नपूर्वक बैठ, यत्नपूर्वक शयन कर, यत्नपूर्वक भोजन कर और यत्नपूर्वक वचन बोल जिससे कि पाप का बंध नहीं होगा।

2. **सूत्रकृतांग**—छत्तीस हजार पदों के द्वारा यह अंग ज्ञानविनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्मक्रिया की प्ररूपणा करता है तथा स्वसमय (जैनागम) और परसमय (अन्य मतावलम्बी ग्रंथों) को भी कहता है।

3. **स्थानांग**—ब्यालीस हजार पदों के द्वारा एक से लेकर, उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है। जैसे—यह जीव चैतन्य गुण से समन्वित धर्म वाला होने से एक है, ज्ञान-दर्शन उपयोग रूप से दो प्रकार का है तथा कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना के भेद से तीन प्रकार का है इत्यादि।

4. **समवायांग**—एक लाख चौंसठ हजार पदों के द्वारा समस्त पदार्थों के समवाय का वर्णन करने वाला यह अंग है। उनमें से द्रव्यसमवाय की अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश समान हैं। क्षेत्रसमवाय की अपेक्षा प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्तक नामक प्रथम इन्द्रकबिल, ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नाम का इन्द्रक विमान और सिद्धक्षेत्र ये सब समान प्रमाण वाले हैं अर्थात् इन सबका विस्तार 45 लाख योजन प्रमाण है। कालसमवाय की अपेक्षा एक समय एक समय के बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्त के बराबर है। भावसमवाय की अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है।

5. **व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग**—दो लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा क्या जीव है ? क्या जीव नहीं है ? इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान करने वाला यह पाँचवाँ अंग है।

6. **नाथधर्मकथांग**—पाँच लाख छप्पन हजार पदों के द्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से तीर्थकरों की धर्मदेशना, संदेह को प्राप्त गणधरदेव के संदेह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा और उपकथाओं का वर्णन करने वाला यह अंग “ज्ञातृधर्मकथांग” के नाम से भी जाना जाता है।

7. **उपासकाध्ययनांग**—ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा—

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट्याग इस प्रकार ग्यारह प्रतिमारूप व्रतों के द्वारा उपासकों—श्रावकों के लक्षण, उनके व्रतारोपण—व्रत धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन यह “उपासकाध्ययन अंग” नामक ग्रंथ करता है।

8. **अन्तःकृद्दशांग**—तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्य प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए दश-दश अन्तकृत केवलियों का वर्णन करता है। तत्त्वार्थभाष्य में कहा भी है—

जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया उन्हें “अन्तकृतकेवली” कहते हैं। वर्धमान तीर्थकर के तीर्थ में नमि, मतंग,

सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंवल, पालम्ब और अष्टपुत्र ये दश अन्तकृत्केवली हुए हैं। इसी प्रकार ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थकरों के तीर्थ में और दूसरे दश-दश अनगार दारुण उपसर्गों को सहनकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृत्केवली हुए। इन सबकी दशा का जिसमें वर्णन किया जाता है उसे “अन्तकृद्दश” नामक अंग कहते हैं।

9. अनुत्तरौपपादिकदशांग — बानवे लाख चवालीस हजार पदों द्वारा एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन करके प्रातिहार्यों को प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में गए हुए दश-दश महामुनियों का वर्णन करने वाला यह अंग है।

तत्त्वार्थभाष्य में भी कहा है—

उपपाद जन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। जो इन अनुत्तरों में उपपाद जन्म से पैदा होते हैं उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्धमान तीर्थकर के तीर्थ में हुए हैं। इसी प्रकार ऋषभनाथ आदि तेईस तीर्थकरों के तीर्थ में अन्य दश-दश महासाधु दारुण उपसर्गों को जीतकर विजयादिक पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न हुए।

इस तरह अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले दश साधुओं का जिसमें वर्णन किया जावे, उसे अनुत्तरौपपादिकदशांग नाम का अंग कहते हैं।

10. प्रश्नव्याकरणांग — तिरानवे लाख सोलह हजार पदों के द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी इन चार कथाओं का वर्णन करता है अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल संबंधी धन-धान्य, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, जय और पराजय संबंधी प्रश्नों के पूछने पर उनके उपाय का लाभ वर्णन करने वाला यह अंग है।

जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों का और दूसरे समयों-ग्रंथों का निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ पदार्थ का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिसमें पहले परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं पश्चात् परसमय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है और छह द्रव्य, नव पदार्थों का वर्णन किया जाता है, उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

तीर्थकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियों का एवं उनकी पुण्यकथा का वर्णन करने वाली संवेदनी कथा है।

नरक, तिर्यच और कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि पाप-फलों को बतलाने वाले निर्वेदनी कथा है। यह संसार, शरीर और भोगों में वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा है।

यहाँ समस्त कथाओं के मध्य में जो विक्षेपणी कथा है उसे सबके सामने नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जिसे जिनवचनों का ज्ञान नहीं है वह कदाचित् परसमय का प्रतिपादन करने वाली इन कथाओं को सुनकर मिथ्यात्वपने को स्वीकार कर सकता है अतः उसके लिए विक्षेपणी कथा का उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं को ही कहना चाहिए-वे ही उसके लिए सुनने योग्य हैं।

यह दशवाँ अंग प्रश्न की अपेक्षा से हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, जय-पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का निरूपण भी करता है।

11. विपाकसूत्रांग — एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य-पाप कर्मों के विपाक-फल का वर्णन करता है।

इन ग्यारह अंगों के कुल पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार प्रमाण है।

12. दृष्टिवाद अंग — इसमें कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियों के एक सौ अस्सी मतों का मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्बलि, माठर

और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियों के चौरासी मतों का, शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, वादरायण, स्वेष्टकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनी आदि अज्ञानवादियों के सड़सठ (67) मतों का तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूल आदि वैनयिकवादियों के बत्तीस मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। पूर्व में कहे हुए क्रियावादी आदि के कुल भेद तीन सौ त्रेसठ होते हैं।

इस प्रकार इन 363 पाखंड मतों का वर्णन और निराकरण दृष्टिवाद अंग में किया गया है।

2.3 दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं—

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म भी पाँच प्रकार का है—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति।

चन्द्रप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म छत्तीस लाख पाँच हजार पदों के द्वारा चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है।

सूर्यप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानि-वृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करता है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा अन्य तिर्यच आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म बावनलाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धार पल्य से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीप सागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के अन्य पदार्थों का वर्णन करता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीवराशि का वर्णन करता है।

2. सूत्र—अठासी (88) लाख पदों के द्वारा जीव एकान्त से अबन्धक है, अलेपक है, अकर्ता है, अभोक्ता है, निर्गुण है, सर्वगत ही है इत्यादि 363 (तीन सौ त्रेसठ) मतों का वर्णन करने वाला “सूत्र” है।

यह सूत्र नामक अर्थाधिकार त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है।

3. प्रथमानुयोग—इसमें पाँच हजार पदों के द्वारा पुराण ग्रंथों का वर्णन किया गया है।

जिनेन्द्रदेव ने जगत में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं।

प्रथमानुयोग में जिस बारह पुराणों के उपदेश का कथन आया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—1. अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरों का पुराण 2. चक्रवर्तियों का पुराण 3. विद्याधरों का पुराण 4. नारायण-प्रतिनारायण पुराण 5. चारण ऋद्धिधारियों का प्रमाण 6. प्रज्ञाश्रमणों के वंश का वर्णन करने वाले पुराण 7. कुरुवंश पुराण 8. हरिवंश पुराण 9. इक्ष्वाकुवंश पुराण 10. काश्यपवंश पुराण 11. वादियों के वंश का वर्णन करने वाला पुराण 12. नाथवंश पुराण।

4. पूर्वगत—पंचानवे करोड़, पचास लाख, पाँच पदों द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आदि का वर्णन करने वाला पूर्वगत अर्थाधिकार है। इसके चौदह भेद आगे कहेंगे।

5. चूलिका—यह पाँच प्रकार की है—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

जलगता चूलिका में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ (20989200) पदों के द्वारा जल में गमन और

जलस्तम्भन के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदि का वर्णन आता है।

स्थलगता चूलिका भी उतने ही अर्थात् दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरणरूप अतिशय आदि का तथा वास्तुविद्या और भूमि संबंधी अन्य शुभाशुभ कारणों का भी वर्णन करती है।

मायागता चूलिका भी उपर्युक्त पदों द्वारा इन्द्रजाल आदि के कारणों का वर्णन करती है।

रूपगता चूलिका में इतने ही पदों द्वारा सिंह, घोड़ा, हिरण आदि के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन है।

आकाशगता चूलिका भी उपर्युक्त 20989200 पदों द्वारा आकाशगमन में निमित्तभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण का वर्णन करती है।

इन पाँचों ही चूलिका की समस्त पद संख्या दश करोड़ उनचास लाख छियालिस हजार आती है।

2.4 चौदह पूर्व —

उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणप्रवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व।

इन चौदह पूर्वों की सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पंचानवे (195) होता है और एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभूत होते हैं इसलिए सम्पूर्ण प्राभूतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ (3900) होता है।

“एक-एक प्राभूतों के चौबीस-चौबीस अनुयोग द्वारों के नाम से अर्थाधिकार होते हैं।” ऐसा कसायपाहुड़ में कहा है।

1. **उत्पादपूर्व**—दश वस्तुगत दो सौ प्राभूतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव-काल और पुद्गलों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का वर्णन करता है।

2. **अग्रायणीय पूर्व**—चौदह वस्तुगत दो सौ अस्सी प्राभूतों के छ्यानवे लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र-परिमाण का कथन करता है और वह सात सौ सुनय-दुर्नय, पाँच अस्तिकाय, छहद्रव्य, साततत्त्व, नवपदार्थ आदि का वर्णन भी करता है।

3. **वीर्यानुप्रवाद पूर्व**—इसमें आठ वस्तुगत एक सौ साठ प्राभूतों का सत्तर लाख पदों के द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भववीर्य और तपोवीर्य का वर्णन है।

4. **अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व**—अठारह वस्तुगत तीन सौ आठ प्राभूतों के साठ लाख पदों द्वारा जीव-अजीव के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का वर्णन करता है।

5. **ज्ञानप्रवाद पूर्व**—बारहवस्तुगत दो सौ चालीस प्राभूतों के एक कम एक करोड़ पदों द्वारा पाँच ज्ञान, तीन अज्ञानों का वर्णन करता है।

6. **सत्यप्रवादपूर्व**—बारह वस्तुगत दो सौ चालीस प्राभूतों के एक करोड़ छह पदों द्वारा वचनगुप्ति, वाक्संस्कार के कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्यवचन और दश प्रकार के सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है।

दश प्रकार के सत्य के नाम इस प्रकार हैं— नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीतिसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्य के भेद से सत्यवचन दश प्रकार का है। इनका विशेष वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्ड से देखना चाहिए।

7. **आत्मप्रवादपूर्व**—सोलह वस्तुगत तीन सौ बीस प्राभूतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादिरूप से आत्मा का वर्णन विस्तार से करता है।

8. **कर्मप्रवादपूर्व**—बीस वस्तुगत चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है।

9. **प्रत्याख्यानपूर्व**—तीस वस्तुगत छह सौ प्राभृतों के चौरासी लाख पदों द्वारा द्रव्य, भाव आदि की अपेक्षा परिमित कालरूप और अपरिमित कालरूप प्रत्याख्यान, उपवास विधि, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन करता है।

10. **विद्यानुवादपूर्व**—पन्द्रह वस्तुगत तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दश लाख पदों द्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और चिन्ह इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है।

11. **कल्याणवादपूर्व**—दश वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहंत अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याणकों का वर्णन करता है।

12. **प्राणावायपूर्व**—दश वस्तुओं का, दो सौ प्राभृतों के तेरह करोड़ पदों के द्वारा कायचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद को, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किए गए भस्मलेपन सूत्रबन्धनादि कर्म, जांगुलि प्रक्रम (विषविद्या) और श्वासोच्छ्वास के विभाग को विस्तार से बतलाने वाला प्राणावायपूर्व है।

13. **क्रियाविशालपूर्व**—दशवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के नौ करोड़ पदों के द्वारा लेखनकला आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्पकला का, काव्यसम्बन्धी गुण-दोष विधि का और छन्दनिर्माण कला का वर्णन करने वाला क्रियाविशालपूर्व है।

14. **लोकविन्दुसारपूर्व**—दशवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के बारह करोड़ पचास लाख पदों के द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्षसुख का वर्णन करने वाला यह चौदहवाँ पूर्व है।

2.5 अब पद भेदों को कहते हैं—

अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद ये पद के तीन भेद माने गए हैं। इनमें से मध्यम पद के द्वारा अंग एवं पूर्वों का पदविभाग किया गया है।

पद तीन प्रकार के होते हैं—अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। इनमें से अनियत अक्षरों का समूह “अर्थपद” है। जैसे—ग्रंथ को लाओ, देवपूजा करो इत्यादि।

आठ अक्षरों के समूह को “प्रमाणपद” कहते हैं। यथा—अनुष्टुप् छंद के एक-एक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं इत्यादि।

मध्यमपद के अक्षरों का प्रमाण सर्वकाल (हमेशा) निश्चित ही रहता है। कहा भी है—परमागम में अंग पूर्वों की पदसंख्या मध्यम पदों के द्वारा ही बतलाई गई है। उस एक मध्यमपद के अक्षरों का प्रमाण कहते हैं—

सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है।

अर्थात् एक मध्यमपद में सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं। इस प्रकार से द्वादशांग के समस्त पदों की संख्या कहते हैं—

द्वादशांग के सब मध्यम पदों का प्रमाण एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पाँच है।

अर्थात् 1128358005 पद द्वादशांग में होते हैं ऐसा अभिप्राय है।

2.6 अंगबाह्य के अक्षरों की संख्या —

प्रकीर्णक अर्थात् सामायिक आदि चौदह अंग बाह्यों के अक्षर आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पिचहत्तर प्रमाण होते हैं।

अर्थात् 80108175 अक्षर प्रकीर्णक— अंगबाह्य में होते हैं ऐसा अर्थ हुआ।

इतने अक्षरों से मध्यमपद नहीं होते हैं अतएव इतने अक्षरों के द्वारा अंग पूर्व की पदसंख्या नहीं बनती है, इसी कारण इन अक्षरों के द्वारा ग्रथित-गूँथे गये-वर्णित किए गए श्रुत की 'अंगबाह्य' संज्ञा मानी गई है।

2.7 अंगबाह्य के चौदह भेद —

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका ये चौदह भेद अंगबाह्य के हैं।

1. सामायिक नामका श्रुत अंगबाह्य अर्थाधिकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों द्वारा समता भाव के विधान का वर्णन करता है।

अन्यत्र कहा भी है— तीनों ही सन्ध्याओं में या पक्ष और मास के संधि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अंतरंग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करना सामायिक है।

2. चतुर्विंशतिस्तव श्रुत उस-उस काल संबंधी चौबीस तीर्थकरों की वंदना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थकरों की वंदना की सफलता का वर्णन करता है।

3. वंदना नाम का अर्थाधिकार एक जिनेन्द्रदेव सम्बंधी और उनके जिनालय संबंधी वंदना के निरवद्यभाव का अर्थात् प्रशस्तरूप भाव का वर्णन करता है।

4. प्रतिक्रमण नामका अर्थाधिकार काल और पुरुष का आश्रय लेकर सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का निरूपण करता है।

प्रमाद कृत दैवसिक आदि दोषों का निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमार्थिक के भेद से सात प्रकार का है। दुष्पम आदि काल और छह संहनन से युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाव वाले पुरुषों का आश्रय लेकर यथायोग्य इन सातों प्रतिक्रमणों का प्ररूपण करने वाला यह प्रतिक्रमण अर्थाधिकार है।

5. वैनयिक नामका अर्थाधिकार ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय इन पाँच प्रकार के विनयों का वर्णन करता है।

6. कृतिकर्म नामका अर्थाधिकार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पूजा आदि की विधि का वर्णन करता है।

उस कृतिकर्म के आत्माधीन होकर किए गए तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

7. दशवैकालिक अर्थाधिकार मुनियों के आचार और गोचरी विधि का वर्णन करता है।

विशिष्ट काल को विकाल कहते हैं। उसमें जो विशेषता होती है उसे वैकालिक कहते हैं। वे वैकालिक दश हैं। उनको कहने वाला दशवैकालिक है।

8. उत्तराध्ययन अर्थाधिकार उत्तरपदों का वर्णन करता है। यह चार प्रकार के उपसर्गों का, बाईस प्रकार के परीषहों का एवं उन सबके सहन करने की विधि का तथा फल का प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन करता है।

9. कल्पव्यवहार साधुओं के योग्य आचरण का और अयोग्य आचरण के होने पर प्रायश्चित्त विधि का वर्णन करता है।

कल्प नाम योग्य का है और व्यवहार नाम आचार का है उन सबका वर्णन करने वाला कल्पव्यवहार है।

10. कल्पाकल्पिक द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है इस तरह इन सबका वर्णन करता है।

11. महाकल्प काल और संहनन का आश्रय कर साधुओं के द्रव्य-क्षेत्रादि का वर्णन करता है।

इसमें उत्कृष्ट संहनन आदि विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करने वाले जिनकल्पी साधुओं के योग्य त्रिकालयोग आदि अनुष्ठान का और स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदि का विशेष वर्णन है।

12. पुण्डरीक नामका अर्थाधिकार भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारणरूप, दान, पूजा, तपश्चरण, अकामनिर्जरा, सम्यग्दर्शन और संयम आदि अनुष्ठानों का वर्णन करता है।

13. महापुण्डरीक समस्त इंद्र और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारण रूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है।

14. निषिद्धिका अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त विधान का कथन करता है।

प्रमादजन्य दोषों के निराकरण करने को निषिद्धि कहते हैं और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं।

श्री भट्टकालंकदेव ने भी अगांगबाह्य का लक्षण कहा है—

अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं जिन्हें बुद्धि आदि अतिशयकारी ऋद्धियों से संपन्न गणधर देवों ने स्मरण करके ग्रंथरचना की है।

आरातीय आचार्यकृत अंग अर्थ के आधार से रचे गए ग्रंथ अंगबाह्य हैं।

श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु एवं अल्प बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गए संक्षिप्त ग्रंथ अंगबाह्य हैं।

वह अंगबाह्य कालिक, उत्कालिक आदि विकल्प से अनेक प्रकार का है।

कालिक और उत्कालिक आदि की अपेक्षा उस अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। स्वाध्याय काल में जिनके पठन-पाठन का नियम अर्थात् नियतकाल है वे 'कालिक' कहलाते हैं तथा जिनके पठन-पाठन का कोई नियत समय न हो वे 'उत्कालिक' हैं। उत्तराध्ययन आदि अनेक प्रकार के अंगबाह्य ग्रंथ हैं।

2.8 श्रुतदेवी का लक्षण—

यह द्वादशांग वाणी ग्रंथों में श्रुतदेवीरूप से भी वर्णित की गई है।

प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में कहा भी है—

श्रुतदेवी के बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन यह तिलक है, चारित्र उनका वस्त्र है, चौदह पूर्व उनके आभरण हैं ऐसी कल्पना करके श्रुतदेवी की स्थापना करनी चाहिए।

प्रतिष्ठातिलक नामक ग्रंथ में श्रुत के बारह अंगों में निबद्ध सरस्वती माता को एक स्तोत्र के माध्यम से इस प्रकार स्वीकार किया है—

बारह अंगों में से प्रथम जो "आचारांग" है, वह श्रुतदेवी-सरस्वती देवी का मस्तक है, "सूत्रकृतांग" मुख है, "स्थानांग" कण्ठ है, समवायांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये दोनों अंग उनकी दोनों भुजाएँ हैं, ज्ञातृकथांग और उपासकाध्ययनांग ये दोनों अंग उस सरस्वती देवी के दो स्तन हैं, अंतकृद्दशांग यह नाभि है, अनुत्तरदशांग श्रुतदेवी का नितम्ब है,

प्रश्नव्याकरणांग यह जघन भाग है, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये दोनों अंग उन सरस्वती देवी के दोनों पैर हैं। “सम्यक्त्व” यह उनका तिलक है, चौदह पूर्व अलंकार हैं और “प्रकीर्णक श्रुत” सुन्दर बेल-बूटे सदृश हैं। ऐसी कल्पना करके यहाँ पर द्वादशांग जिनवाणी को सरस्वती देवी के रूप में लिया गया है।

श्री जिनेन्द्रदेव ने सर्व पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों को देख लिया है, उन सर्व द्रव्य पर्यायों की यह “श्रुतदेवता” अधिष्ठात्री देवी हैं अर्थात् इनके आश्रय से पदार्थों की सर्व अवस्थाओं का ज्ञान होता है। परमब्रह्म के मार्ग का अवलोकन करने वाले लोगों के लिए यह स्याद्वाद के रहस्य को बतलाने वाली है तथा भव्यों के लिए भुक्ति और मुक्ति को देने वाली ऐसी यह सरस्वती माता है।

हे अम्ब! आप सम्पूर्ण स्त्रियों की सृष्टि में चूड़ामणि हो। आपसे ही धर्म की और गुणों की उत्पत्ति होती है। आप मुक्ति के लिए प्रमुख कारण हो, इसलिए मैं अतीव भक्तिपूर्वक आपके चरणकमलों को नमस्कार करता हूँ।

श्रीवीरसेनाचार्य ने भी धवला ग्रंथ में कहा है—

जो श्रुतज्ञान के प्रसिद्ध बारह अंगों से ग्रहण करने योग्य हैं अर्थात् बारह अंगों का समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकार के मल (अतीचार) और तीन मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शन रूप उन्नत तिलक से विराजमान है और नाना प्रकार के निर्मल चारित्र ही जिनके आभूषण हैं ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो।

जिसका आदि-मध्य और अन्त से रहित निर्मल शरीर, अंग और अंगबाह्य से निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती अर्थात् जागृतचक्षु हैं ऐसी श्रुतदेवी माता को नमस्कार हो।

सरस्वती स्तोत्र में भी सरस्वती देवी के लक्षण कहते हैं। जैसे—

चन्द्रार्क कोटिघटितोज्वलदिव्यमूर्ते। श्रीचन्द्रिकाकलितनिर्मल शुभ्रवासे।।

कामर्थदायिकलहंससमाधिरूढे। वागीश्वरि ! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि।।

अर्थ—करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा के एकत्रित तेज से भी अधिक तेज धारण करने वाली, चन्द्र किरण के समान अत्यंत स्वच्छ एवं श्वेत वस्त्र को धारण करने वाली तथा कलहंस पक्षी पर आरूढ़ दिव्यमूर्ति श्री सरस्वती देवी हमारी प्रतिदिन रक्षा करें।

दिव्य कमल के समान नेत्रों वाली, हंस वाहन पर आरूढ़, वीणा और पुस्तक को हाथ में धारण करने वाली सरस्वती देवी है।

सरस्वती माता के सोलह नाम—

1. भारती 2. सरस्वती 3. शारदा 4. हंसगामिनी 5. विद्वानों की माता 6. वागीश्वरी 7. कुमारी 8. ब्रह्मचारिणी 9. जगन्माता 10. ब्राह्मिणी 11. ब्रह्माणी 12. वरदा 13. वाणी 14. भाषा 15. श्रुतदेवी और 16. गो।

अन्यत्र एक सौ आठ नाम मंत्र भी सुने जाते हैं।

सरस्वती देवी की मूर्ति जैन मंदिरों में भी देखी जाती हैं, ये चार निकाय वाले देवों में से किसी निकाय की देवी नहीं हैं बल्कि द्वादशांग जिनवाणी स्वरूप माता ही हैं इसलिए मुनियों के द्वारा भी वंद्य हैं ऐसा जानना चाहिए। वस्त्र-अलंकारों से भूषित होने पर भी वे सरागी नहीं हैं। वस्त्र से वेष्टित शास्त्र के समान वे सरस्वती की प्रतिमाएँ भी सभी के द्वारा सर्वदा पूज्य ही हैं इसलिए विद्वानों को इस विषय में किंचित् भी शंका नहीं करनी चाहिए।

भगवान महावीर स्वामी के प्रमुख शिष्य गणधर देव श्री गौतम स्वामी के द्वारा दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य को प्रदान किया गया, लोहाचार्य ने भी जम्बूस्वामी को दिया अतः परिपाटी-परम्परा क्रम से ये तीनों भी सकलश्रुत के धारक माने गये। पुनः अपरिपाटी—अक्रम परम्परा से सकलश्रुत के पारगामी संख्यात हजार हुए हैं। उसके पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु नाम वाले ये पाँच आचार्य परम्परा क्रम से चौदह पूर्व के धारी श्रुतकेवली

हुए। तत्पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थस्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन नामके ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग और दश पूर्व के ज्ञाता हुए तथा उपरिम चार पूर्वों के एक देश ज्ञाता हुए हैं।

तदनन्तर नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य नामके ये पाँच आचार्य परिपाटी क्रम से सभी अंग और पूर्वों के एक देश धारक हुए। उसके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य नाम वाले चार आचार्य एक आचारांग के धारी थे तथा शेष दश अंग एवं चौदह पूर्वों के एक देश ज्ञाता थे।

उसके पश्चात् चौदह पूर्वों का एक देश ज्ञान आचार्य परम्परा से चलता हुआ श्रीधरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ था।

2.9 श्रुतावतार की कथा—

सौराष्ट्र देश के गिरिनगर— गिरनार की “चन्द्र” नामक गुफा में निवास करने वाले अष्टांगमहानिमित्त के पारगामी— ज्ञानी श्रीधरसेन आचार्य ने एक बार मन में विचार किया कि आगे भविष्य में अंग श्रुत का व्युच्छेद— खंडन हो जाएगा अतः किसी भी उपाय से उस अंग श्रुतज्ञान की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए, तब उन्होंने पंचवर्षीय साधुसम्मेलन में सम्मिलित दक्षिणदेशवासी आचार्यों के पास एक लेख-संदेश भिजवाया। लेख में लिखित श्रीधरसेनाचार्य के वचनों पर विचार-विमर्श करके उन आचार्यों ने श्रुत को अच्छी प्रकार से ग्रहण एवं धारण करने में समर्थ, देश, कुल, जाति से शुद्ध दो दिगम्बर मुनियों को आन्ध्रदेश के वेणा नदी के तट से गिरनार की ओर विहार करा दिया— भेज दिया।

सौराष्ट्र देश के गिरिनगरपुर के समीप ऊर्जयन्त पर्वत पर चंद्रगुफा में निवास करने वाले महातपस्वी, मुनिश्रेष्ठ, आग्रायणीय पूर्व स्थित पंचमवस्तुगत चतुर्थ महाकर्म प्राभृत के ज्ञाता श्रीधरसेनाचार्य थे। उन्होंने अपनी आयु का अंत निकट जानकर और आगे श्रुत का विच्छेद होने वाला है— हो जायेगा अतः मुझे इसे किसी निपुणमति— बुद्धिमान के लिए प्रदान करना चाहिए ऐसा विचार करके वेणानदी के तट पर महामहिम उत्सव में एकत्रित हुए मुनियों के पास एक ब्रह्मचारी के द्वारा लेख-पत्र भिजवाया।

उन मुनियों ने ब्रह्मचारी से लेख प्राप्त करके समस्त मुनिसभा के बीच में उन महात्मा महामुनि का लिखित संदेश सुनाया कि—

ऊर्जयन्त तट के निकट चन्द्रगुफा निवासी मैं धरसेन आचार्य वेणाक तट पर एकत्रित स्वस्ति श्रीमान् मुनियों की वंदना करते हुए इस कार्य के लिए निवेदन करता हूँ कि मेरी आयु अब थोड़ी ही शेष बची है और मेरे पास स्थित श्रुत का आगे व्युच्छेद हो जाएगा अतः आप लोग श्रुत को ग्रहण-धारण करने में समर्थ ऐसे दो शिष्य मुझसे श्रुत को प्राप्त करने तथा आगे की श्रुत परम्परा चलाने हेतु मेरे पास भिजवाने का अनुग्रह करें।

उन मुनियों ने श्रीधरसेनाचार्य के लेख का अभिप्राय भलीभाँति समझ कर उपर्युक्त गुणों के धारक दो मुनियों का पूरे संघ में से अन्वेषण करके श्री धरसेनाचार्य के पास भेज दिया। वे दोनों विहार करते हुए ऊर्जयन्त पर्वत पर पहुँच गए।

एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में श्रीधरसेनाचार्य ने स्वप्न में देखा कि समस्त शुभ लक्षणों से समन्वित दो सुन्दर वृषभ-बैल मेरी तीन प्रदक्षिणा करके नम्रीभूत अंगों से मेरे चरणों में झुककर नमन कर रहे हैं। तब संतुष्टमना आचार्य “जयतु श्रुतदेवता” इस वाक्य का उच्चारण करके निद्रा से उठकर बैठ गए। उसी दिन प्रातःकाल दक्षिणापथ से विहार करते हुए वे दोनों मुनि वहाँ पहुँच गए। उन दोनों मुनियों ने कृतिकर्म विधिपूर्वक श्रीधरसेन भगवन्त को नमस्कार किया। पुनः दो दिन के बाद तीसरे दिन विनयपूर्वक श्री धरसेन- भट्टारक से निवेदन किया—

भगवन्! आपके पत्रानुसार हम दो मुनि आपके पादमूल में आ गए हैं। “बहुत अच्छा” ऐसा बोलकर आचार्यश्री ने भी उन दोनों को आश्वस्त किया। तब श्रीधरसेनाचार्य ने चिन्तन किया कि—“स्वैराचारी—स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले मुनियों को दिया गया विद्यादान संसार भय को बढ़ाने वाला है।” यद्यपि शुभ स्वप्न के दर्शन से उन्होंने इन दोनों मुनियों की योग्यता

को जान लिया था फिर भी “अच्छी तरह से परीक्षा कर लेने पर हृदय पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है” ऐसा निर्णय करके उन्होंने दोनों को दो विद्या मंत्र दिए जिसके एक मंत्र में एक अक्षर अधिक था एवं दूसरे मंत्र में एक अक्षर कम था। “आप दोनों षष्ठोपवास—बेला (दो उपवास) करके इन विद्याओं की सिद्धि करें” ऐसी आज्ञा देकर उन्हें गिरनार पर्वत पर भेज दिया।

श्रीनेमिनाथ जिनेश्वर की सिद्धभूमि पर दोनों मुनियों ने विधिपूर्वक विद्या साधना की तब उनके सामने दो विद्या देवियाँ प्रगट हो गईं।

तब उन दोनों मुनिराजों ने अपने सामने विद्या देवियों को देखा। एक अक्षर कम वाले मंत्र की साधना करने वाले मुनि के समक्ष जो देवी प्रगट हुई वह एक आँख वाली थी। अधिकाक्षर मंत्र की साधना करते हुए साधक मुनि के सम्मुख लम्बे-लम्बे दाँत वाली देवी प्रगट हुई। “देवताओं का स्वभाव—रूप ऐसा तो नहीं होता है” अर्थात् देवों का स्वरूप-आकार विकृत नहीं होता है ऐसा सोचकर मंत्रव्याकरण में कुशल उन दोनों मुनियों ने हीन अक्षर वाले मंत्र में एक वर्ण मिलाकर तथा अधिक अक्षर वाले मंत्र में एक अक्षर निकाल कर मंत्रों को शुद्ध किया। पुनः विधिवत् मंत्र साधना करने से उनके समक्ष दिव्य रूप वाली देवियाँ प्रगट हो गईं। “क्या कार्य है ?” ऐसा उन देवियों के पूछने पर “हम लोगों का कुछ भी कार्य—प्रयोजन नहीं है” मुनियों का उत्तर सुनकर वे दोनों अपने-अपने स्थान पर वापस चली गईं।

पुनः दोनों मुनियों ने श्री धरसेन आचार्य के पास आकर यथावत् समस्त वृत्तान्त विनयपूर्वक निवेदन किया, जिसे सुनकर सन्तुष्टमना श्रीधरसेन भट्टारक ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र एवं शुभ वार—दिन में उन दोनों को ग्रंथ अध्ययन प्रारंभ करा दिया।

यदि वे मुनि विद्यासिद्धि करने से पहले ही मंत्रों में संशोधन कर लेते तो आचार्य देव के प्रति श्रद्धा-भक्ति गुण का लोप हो जाता और यदि बाद में संशोधन नहीं करते तो कुशाग्र बुद्धि के अभाव में उनमें अपात्रता हो जाती।

अतः उन मुनियों की सर्वांगीण योग्यता देखकर आचार्यप्रवर धरसेन भट्टारक ने अपने में स्थित—अपने अंदर स्थित जो ज्ञान था इस द्वितीय पूर्व के अंतर्गत एकदेश विद्या—ज्ञान को उन्हें प्रदान किया। क्रमपूर्वक व्याख्यान करते हुए उन्होंने आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की एकादशी तिथि के पूर्वाह्न काल में विधिपूर्वक ग्रंथ समाप्त किया।

विनयपूर्वक ग्रंथ का अध्ययन इन लोगों ने किया है इस बात से संतुष्ट होकर भूत जाति के व्यन्तर देवों ने पुष्प, बलि (नैवेद्य), शंख, तूर्य आदि के शब्दों से गुंजायमान एक बहुत बड़ी पूजा का आयोजन किया। उस पूजा को देखकर आचार्य भट्टारक देव ने उन मुनिराज का “भूतबलि” यह नामकरण कर दिया। दूसरे मुनि की भूतों ने पूजा करके उनकी अस्त-व्यस्त स्थित दन्तपंक्ति को हटाकर उन्हें एक समान कर दिया तब गुरुदेव ने उनका “पुष्पदन्त” यह नाम रख दिया।

उसके पश्चात् “गुरु वचन अलंघनीय होते हैं” ऐसा चिन्तन करके उन दोनों मुनियों ने वहाँ से विहार करके गुजरात के “अंकलेश्वर” ग्राम में आकर वर्षायोग किया।

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी तिथि को ग्रंथ का अध्ययन पूर्ण किया, उसके बाद विहार करके अंकलेश्वर नगर में पहुँच कर श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की पंचमी तिथि को उन दोनों मुनियों ने वर्षायोग स्थापन किया।

उसके पश्चात् वर्षायोग समाप्त करके “पुष्पदन्त” आचार्य “जिनपालित” नामके अपने भानजे के साथ “वनवास” देश को चले गये, ‘भूतबलि’ भट्टारक भी ‘तमिल’ देश को चले गये। उसके बाद पुष्पदन्ताचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर पुनः बीस सूत्र रचकर उनको पढ़ाकर अनंतर उन्हें भूतबलि भगवान् के पास में भेज दिया। भूतबलि भगवान् जिनपालित मुनि को और उन बीसों सूत्रों को देखकर तथा जिनपालित के मुख से पुष्पदन्ताचार्य को अल्पायुष्क जानकर मन में चिन्तित हो गये।

“महाकर्मप्रकृतिप्राभृत” का विनाश हो जाएगा ऐसा विचार करके, अपने सहपाठी पुष्पदंत मुनिराज के अभिप्राय

को जान कर पुनः उन भूतबलि मुनिराज ने “द्रव्यप्रमाणानुगम” को आदि में करके ग्रंथ रचना की। उसके बाद षट्खंडागम सिद्धान्त की प्रतीति करके पुष्पदंत-भूतबलि दोनों आचार्य भी ग्रंथकर्ता कहे जाते हैं।

यहाँ जो “विंशतिसूत्राणि” पद से बीससूत्रों का वर्णन है उनसे बीस प्ररूपणा गर्भित सूत्रों को लेना चाहिए। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने प्रथमखण्ड के बीस प्ररूपणा गर्भित एक सौ सतत्तर (177) सूत्रों को रचा है और उसके बाद की समस्त रचना श्रीभूतबलि आचार्य द्वारा हुई है।

इसके अनंतर पुष्पदंत मुनि ने भी उस अपने भगिनीपुत्र (भानजे) जिनपालित को पढ़ाने के लिए इस करहाट नगर में छह खण्डों के द्वारा गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्रकार की सत्प्ररूपणा से युक्त कर्मप्रकृति से युक्त प्रकरण का संक्षेप में सम्यक् रीति से जीवस्थानादि अधिकार की रचना की।

उन सौ सूत्रों को पढ़ाकर अनंतर भूतबलि गुरु के निकट उनका अर्थ जानने के लिए भेजा। वह जिनपालित भी शिष्यबुद्धि से उनके पास पहुँचे।

इसके अनंतर महात्मा भूतबलि ने उन पुष्पदन्त आचार्य के शिष्य जिनपालित द्वारा पढ़ी गई सत्प्ररूपणा को सुनकर जिनवाणी के पिपासु भव्य जीवों को अल्प आयु तथा अल्पबुद्धि का जानकर तथा पुष्पदंत गुरु के षट्खंडागम की रचना के अभिप्राय को जानकर द्रव्यप्ररूपणा अधिकार के बाद पुष्पदन्त गुरु द्वारा लिखित जिनपालित द्वारा सुनाए गए सौ सूत्रों सहित छह हजार सूत्र प्रमाण पाँच खण्डों के ग्रंथों की रचना कर तीस हजार सूत्रों में छोटे महाबन्ध नामक ग्रंथ को बनाया।

इस प्रकार भूतबलि महाराज ने षट्खंडागम ग्रंथ की रचना की। अनंतर असद्भाव स्थापना से पुस्तकों में आरूढ़ कर-लिपिबद्ध करके चातुर्वर्ण्य संघ की सन्निधि में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन पुस्तक संबंधि उपकरणों—वेष्टन आदि द्वारा विधिपूर्वक पूजा की।

उस कारण से यह ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी की तिथि श्रुतपंचमी के नाम से पर्व के रूप में अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हुई, जिसके कारण जैन समुदाय आज भी इस दिन श्रुतज्ञान की पूजा करते हैं।

तदनन्तर भूतबलि महाराज ने उन जिनपालित मुनि से पुष्पदन्त गुरु के निकट षट्खंडागम नामक ये ग्रंथ भिजवाए।

इसके पश्चात् पुष्पदंत गुरु ने भी जिनपालित के हाथ में सुस्थित षट्खंडागम ग्रंथ को भले प्रकार से देखकर आश्चर्य में पड़ते हुए—‘अरे! मेरे द्वारा विचारा गया कार्य सम्पन्न हो गया’ कह कर समस्त अंगों में उल्लास से भरकर अर्थात् अति प्रसन्नतापूर्वक चातुर्वर्ण्य-मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप संघ से युक्त होकर पूजा करवाई।

उन पुष्पदंत आचार्य ने भी भूतबलि आचार्य की भाँति उसी तरह गंध, अक्षत, माला, वस्त्र, चन्दोवा, घण्टा, ध्वजा आदि के द्वारा श्रुतपंचमी के दिन सिद्धान्त महागम की पूजा करवाई। यह श्रुत अवतार का संक्षिप्त इतिहास पढ़कर सभी ज्ञानपिपासुओं को भी प्रतिवर्ष श्रुतपंचमी (ज्येष्ठ शु. पंचमी) के दिन सरस्वती माता की विशेष आराधना करनी चाहिए।

2.10 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1—श्रुतज्ञान के मूल भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 2—बारह अंगों के नाम बताइये ?

प्रश्न 3—चौदह पूर्वों के नाम बताइये ?

प्रश्न 4—अंग बाह्य श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं।

प्रश्न 5—आचारांग की विषय वस्तु क्या है ? इसके पदों की संख्या कितनी है ?

पाठ-3 — प्रत्यक्ष ज्ञान

3.1 जो इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रमाण दो प्रकार का है—सकलप्रत्यक्ष और देशप्रत्यक्ष। इसमें देश प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान। सर्वप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। इसमें भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्त के भेद से अवधिज्ञान दो प्रकार का है।

भवप्रत्यय अवधि ज्ञान—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।

अर्थ—भव की मुख्यता के कारण जन्म से ही होने वाला अवधिज्ञान देव नारकी जीवों के होता है।

आयु और नाम कर्म के निमित्त से होने वाली जीव की पर्याय को भव कहते हैं। इस प्रकार भव ही जिसका निमित्त होता है उस अवधिज्ञान को **भवप्रत्ययअवधि** कहते हैं। देव और नारकियों के अवधिज्ञान का कारण भव होता है अतः देव—नारकियों के अवधिज्ञान को भवप्रत्यय अवधि कहते हैं।

जिस प्रकार पक्षियों के आकाशगमन का कारण भव होता है शिक्षा, गुण आदि नहीं, उसी प्रकार देव और नारकियों के अवधिज्ञान का प्रधान कारण भव ही है, क्षयोपशम गौण कारण है। अतः व्रत और नियम के न होने पर भी देव और नारकियों के अवधिज्ञान का प्रधान कारण भव ही है, क्षयोपशम गौण कारण है। अतः व्रत और नियम के न होने पर भी देव और नारकियों के अवधिज्ञान का कारण भव ही होता तो सबको समान अवधिज्ञान होना चाहिए, लेकिन देवों और नारकियों में अवधिज्ञान का प्रकर्ष और अप्रकर्ष देखा जाता है। यदि सामान्य से भव ही कारण हो तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि जीवों को भी अवधिज्ञान होना चाहिए। अतः देवों और नारकियों के अवधिज्ञान का कारण भव ही नहीं है, किन्तु कर्म का क्षयोपशम भी कारण है। परन्तु अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम गौण वा साधारण है, असाधारण कारण भव है, क्योंकि देव—नारकियों के भव का निमित्त पाकर अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता ही है।

सम्यग्दृष्टि देव और नारकियों के अवधि होता है और मिथ्यादृष्टियों के विभङ्गावधि।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

अर्थ—क्षयोपशम की सहायता से होने वाला अवधिज्ञान (नरक और देवगति को छोड़कर) मनुष्य और तिर्यचों में होता है। इसके 6 भेद हैं— अनुगामी (जो जीव के साथ दूसरे भव में जावे), अननुगामी (जो जीव के साथ पर भव में न जावे), वर्धमान (विशुद्ध परिणाम होने पर जो बढ़ता रहे), हीयमान (जो आर्त्त और रौद्र परिणामों में वृद्धि के कारण घटता रहे) अवस्थित (जो घटे—बढ़े नहीं), अनवस्थित (जो बढ़ता घटता रहे)।

कर्म पुद्गल शक्तियों की क्रम से हानि और वृद्धि को **स्पर्धक** कहते हैं। अवधिज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदय होने पर उदयप्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और अनुदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम होने को **क्षयोपशम** कहते हैं। जिस अवधि का निमित्त क्षयोपशम है उसको क्षयोपशम निमित्त कहते हैं। क्षयोपशम के निमित्तक से होने वाले अवधिज्ञान के छह भेद हैं। यह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यचों के होता है। यह अवधिज्ञान संज्ञी पर्याप्तकों के ही होता है, सामर्थ्य का अभाव होने ने असंज्ञी और अपर्याप्तकों के अवधिज्ञान नहीं होता। संज्ञी पर्याप्तकों में भी सबके अवधिज्ञान नहीं होता किन्तु पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण कारणों का सन्निधान होने पर उपशान्त और क्षीण कर्म वाले जीवों के अवधिज्ञान होता है। अर्थात्

अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी होता है। यद्यपि अवधिज्ञान, अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से होता है तथापि सूत्र में क्षयोपशम पद का ग्रहण यह नियम करने के लिए किया है कि उक्त जीवों के अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्त से ही अवधिज्ञान होता है, भव के निमित्त से नहीं।

यह अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित के भेद से छह प्रकार का है। कोई अवधिज्ञान जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ जाता है वैसे अपने स्वामी का अनुसरण करता है, उसे अनुगामी कहते हैं।¹¹ कोई अवधिज्ञान अनुसरण नहीं करता किन्तु जैसे विमुख हुए पुरुष के प्रश्न के उत्तरस्वरूप पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता, वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहीं पर छूट जाता है, भवान्तर में साथ नहीं जाता उसे अननुगामी कहते हैं।¹² कोई अवधिज्ञान जंगल के निर्मन्थन से उत्पन्न हुई और सूखे पत्तों से उपचीयमान ईंधन के समुदाय से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धिरूप परिणामों के सन्निधानवश जितने परिणाम में उत्पन्न होता है, उससे असंख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक बढ़ता जाता है उसे वर्धमान कहते हैं।¹³ कोई अवधिज्ञान परिमित उपादानसन्ततिवाली अग्निशिखा के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि से हुए आर्त्त रौद्ररूप संक्लेश परिणामों के बढ़ने से जितने परिमाण में उत्पन्न होता है, उससे मात्र अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानने की योग्यता होने तक घटता चला जाता है, उसे हीयमान कहते हैं।¹⁴ कोई अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों के समानरूप से स्थिर रहने के कारण जितने परिणाम में उत्पन्न होता है, उतना ही बना रहता है। पर्याय के नाश होने तक या केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक शरीर में स्थित मसा आदि चिह्न के समान न घटता है और न बढ़ता है, उसे अवस्थित कहते हैं।¹⁵ कोई अवधिज्ञान वायु के वेग से प्रेरित जल की तरंगों के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की कभी वृद्धि और कभी हानि होने से जितने परिमाण में उत्पन्न होता है, उससे बढ़ता है जहाँ तक उसे बढ़ना चाहिए और घटता है जहाँ तक उसे घटना चाहिए, उसे अनवस्थित कहते हैं।¹⁶ ये छह भेद देशावधि के ही हैं। परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी विशिष्ट संयमी के ही होते हैं। इनमें हानि और वृद्धि नहीं होती है। गृहस्थावस्था में तीर्थङ्कर के और देव तथा नारकियों के देशावधि ही होता है।

मनःपर्ययज्ञान के भेदों के साथ लक्षण—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः।

अर्थ—मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।

दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थ के विज्ञान से निवर्तित पुनः छूटने वाली सरलमति ऋजुमति कहलाती है। अर्थात् सरल मन, वचन, काय, कृत परकीय मनोगत अर्थ को जानने वाली ऋजुमति कहलाती है। दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थ के विज्ञान से अनिवर्तित और वहीं स्थिर रहने वाली मति विपुलमति है। सरल और असरल इन दोनों को जानती है वह विपुलमति कहलाती है। ऋजु है मति जिस मनःपर्यय की वह ऋजुमति और विपुल है मति जिस मनःपर्यय की, वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। यहाँ पर ऋजु—विपुलमति में पुंवद्भासित आनङ् प्रत्यय करके तुल्य अधिकरण में स्त्रीलिंग बनाया है। यहाँ पर एक ही मति शब्द पर्याप्त होने से दूसरे मति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। रूप में रूप प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सरूपों के एक विभक्ति में एक शेष रह जाता है। अथवा ऋजु और विपुल शब्द का कर्मधारय समास करने के बाद इनका मति शब्द के साथ बहुब्रीहि समास कर लेना चाहिए। अर्थात् ऋजु—विपुलमति शब्द ऋजुमति और विपुलमति इन शब्दों से समासित होकर बना है। इस प्रकार यह मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है—ऋजुमति मनःपर्यय और विपुलमति मनःपर्यय।

मनःपर्ययज्ञान का लक्षण—वीर्यान्तराय और मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नाम कर्म के आलम्बन से आत्मा में जो दूसरे के मन के सम्बन्ध से उपयोग जन्म लेता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान

के व्याख्यान के अवसर में श्रुतज्ञान के मति-आत्मकत्व का निषेध किया है, अर्थात् जैसे मतिज्ञान की अपेक्षा मात्र से श्रुतज्ञान मतिज्ञान नहीं है, उसीप्रकार मन की अपेक्षा मात्र होने से मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानात्मक है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। मनःपर्ययज्ञान में दूसरे के मन की अपेक्षा मात्र है—इसलिए वह मतिज्ञान नहीं है। अर्थात् दूसरे के मन में स्थित अर्थ को जानता है, इतनी मात्र यहाँ मन की अपेक्षा है।

इनमें ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से अन्य जीवों के और अपने दो तीन भवों को ग्रहण करता है, गति-आगति को जानता है। उत्कृष्ट से सात आठ भवों का गति-आगति की अपेक्षा कथन करता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से गव्यूति पृथक्त्व और उत्कृष्ट से योजनापृथक्त्व के भीतर की बात जानता है, उसके बाहर की नहीं। विपुलमति मनःपर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से सात-आठ भवों को ग्रहण करता है, उत्कृष्ट से गति-आगति की अपेक्षा असंख्यात भवों का कथन करता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से योजनपृथक्त्व और उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर बात जानता है, इससे बाहर की बात नहीं जानता

ऋजुमती से विपुलमती में विशेषता-

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषं।

अर्थ-विशुद्ध (आत्मा के परिणामों की निर्मलता) और अप्रतिपात (संयम से पतित न होने के कारण) की अपेक्षा ऋजुमती से विपुलमति में विशेषता है।

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो आत्मा में निर्मलता आती है, उसे विशुद्धि कहते हैं। संयम से च्युत होने को प्रतिपात कहते हैं, संयम से नहीं गिरने को अप्रतिपात कहते हैं। उस विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता पाई जाती है। उनमें जैसे उपशान्त कषाय जीव का चारित्र मोहनीय के उदय से संयम शिखर छूट जाता है जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीव के पतन का कारण न होने से प्रतिपात नहीं होता, उसी प्रकार ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान विपुलमति से विशुद्धि कम है और छूट जाता है—परन्तु विपुलमति नहीं छूटता है। इन दोनों की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में भेद है। ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है।

यहाँ जो कार्माण द्रव्य का अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वावधिज्ञान का विषय है उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह ऋजुमति का विषय है और इस ऋजुमति के विषय के अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह विपुलमति का विषय है।

इस प्रकार सूक्ष्म द्रव्य के परिज्ञायक होने से विपुलमति ज्ञान की द्रव्य क्षेत्र काल की अपेक्षा विशुद्धि उत्कृष्ट होती है। भाव की अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य को विषय करने वाला होने से ही भाव-शुद्धि जान लेनी चाहिए, क्योंकि इनका उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम पाया जाता है, इसलिए ऋजुमति से विपुलमति में विशुद्धि अधिक होती है। अप्रतिपात की अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है; क्योंकि इसके स्वामियों के प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि इसके स्वामियों के कषाय के उदय से घटता हुआ चारित्र पाया जाता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विभिन्न अपेक्षाओं से अन्तर-

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः।

अर्थ-अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अन्तर है।

विशुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जितने स्थान में स्थित भावों को जानता है, वह क्षेत्र है। स्वामी का अर्थ प्रयोक्ता है। विषय ज्ञेय को कहते हैं। इस प्रकार विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी, विषय इन चार की अपेक्षा से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विशेषता पाई जाती है। सूक्ष्म वस्तु का विषय करने वाला (जाननेवाला) होने से अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान

विशुद्धतर होता है। तीन लोक में स्थित पुद्गल पर्याय और तत्सम्बन्धी जीव पर्याय को जाननेवाला होनेसे अवधिज्ञान का क्षेत्र मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा अधिकतर है। मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र अल्प है—क्योंकि मनःपर्ययज्ञान उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत के भीतरी भाग को जानता है, अवधिज्ञान का विषय (रूपिष्ववधेः) इस सूत्र में कहेंगे। मनःपर्ययज्ञान के विषय का (तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य) इस सूत्र के द्वारा कथन करेंगे।

यहाँ स्वामी का विचार कहते हैं—मनःपर्ययज्ञान मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, देव—नारकी और तिर्यचों में नहीं। मनुष्यों में गर्भज मनुष्यों के होता है, सम्मूर्च्छनों के नहीं। गर्भजों में कर्मभूमिया जीवों के ही मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है, भोगभूमियों के नहीं। कर्मभूमि में भी पर्याप्तकों के ही मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है, अपर्याप्तकों के नहीं। पर्याप्तकों में भी सम्यग्दृष्टियों के ही होता है, मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यगिमथ्यादृष्टि आदि के नहीं। सम्यग्दृष्टियों में भी संयतों के होता है, असंयतों के नहीं। संयतो में भी छोटे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होता है तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में नहीं; उनमें भी प्रवर्धमान चारित्र वालों के ही होता है, हीयमान—चारित्रवालों के नहीं। प्रवर्धमान चारित्रवालों में भी सात प्रकार की ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धि के धारी के ही होता है, अनृद्धिधारी के नहीं। ऋद्धिधारियों में भी किसी के ही होता है, सबके नहीं। अतः मनःपर्ययज्ञान के स्वामी विशिष्ट संयम वाले ही होते हैं। अवधिज्ञान चारों ही गतियों में होता है। इस प्रकार स्वामी के भेद से दोनों में विशेषता है।

3.2 मतिश्रुतज्ञान का विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।

अर्थ—छह द्रव्यों (जीव, अजीव, धर्म, अधर्म आकाश और काल) की कुछ पर्यायों को जान लेना मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय है।

मति और श्रुत का निबन्ध (विषय) मतिश्रुतनिबन्ध कहलाता है। अर्थात् विषय का निर्धारण, नियंत्रण, मतिश्रुत निबन्ध कहलाता है। अल्प पर्याय सहित जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल द्रव्यों में मतिश्रुतज्ञान की प्रवृत्ति है—अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान द्रव्यों की समस्त पर्यायों को नहीं जानते हैं किन्तु थोड़ी पर्यायों को जानते हैं।

3.3 अब अवधिज्ञान का विषय कहते हैं—

रूपिष्ववधेः।

अर्थ—अवधिज्ञान का विषय मूर्त पदार्थ अथवा उससे संबंधित जीव की कुछ पर्यायों को जानना है।

यह सूत्र नियम के लिए है। इसका यह अर्थ है कि रूपी पुद्गलों में और पुद्गल सम्बन्धित जीव की कुछ पर्यायों को अवधिज्ञान विषय करता है। असर्वपर्याय का सम्बन्ध इस सूत्र में लगाना चाहिए। इसलिए यह अवधिज्ञान अपने योग्य पुद्गल द्रव्यों की अल्प पर्यायों को जानता है परन्तु पुद्गल की एवं कर्म सहित संसारी जीवों की अनन्त पर्यायों में अवधिज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती।

3.4 मनःपर्ययज्ञान का विषय—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य।

अर्थ—सर्वावधि ज्ञान के द्वारा जाने गये द्रव्य के अनन्तवें भाग को मनःपर्यय ज्ञान जानता है।

उस सर्वावधिज्ञान के द्वारा जाने गये रूपी द्रव्य की पर्यायें हैं। उसका अनन्तवाँ भाग, मनःपर्ययज्ञान का विषय—निबन्ध होता है, सूक्ष्म विषय होने से। अर्थात् अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान का विषय सूक्ष्म है। अतः अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

3.5 केवलज्ञान का विषय-

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।

अर्थ-केवलज्ञान का विषय समस्त द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायें हैं।

धर्म, अधर्म आदि सर्व द्रव्य और उन द्रव्यों की त्रिकालवर्ती सर्व पर्यायों को केवलज्ञान जानता है। जीव अनन्तानन्त हैं, जीव से अनन्तगुणे अणु-स्कन्ध भेद से युक्त पुद्गल द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये असंख्येय हैं। इन चारों की तीन काल सम्बन्धी पृथक्-पृथक् अनन्तानन्त पर्यायें हैं। उन सब द्रव्यों और उनकी सर्व त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों को अनन्त महिमा वाला केवलज्ञान एक साथ जानता है।

3.6 कितने ज्ञान एक साथ एक जीव में हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।

अर्थ-एक जीव में एक साथ कम से कम एक और अधिक से अधिक चार ज्ञान हो सकते हैं।

एक अद्वितीय आदि अवयव जिनके हैं, उसको 'एकादीनि' कहते हैं। भाज्यानि का अर्थ है- योजना, जोड़ना, लगाना। युगपत् एक साथ-एकस्मिन्-एक आत्मा में चार ज्ञान हो सकते हैं एक जीव में पाँच ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। जब एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान होगा, क्योंकि क्षायिक केवलज्ञान के साथ क्षायोपशमिक शेष चार ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। यदि दो ज्ञान एक साथ होंगे तो मति और श्रुत। जब तीन ज्ञान एक साथ होंगे तो मति, श्रुत, अवधि या मति, श्रुत और मनःपर्यय। जब एक साथ चार होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ये चार होते हैं।

3.7 मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं-

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।

अर्थ-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये विपरीत भी होते हैं। (मिथ्यादर्शन के उदय से ये ज्ञान मिथ्याज्ञान के द्वारा जीव पदार्थों को विपरीत रूप से जानता है)।

मिथ्यादर्शन के उदय से ये ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाते हैं 'च' कार शब्द से सम्यग्ज्ञान भी होते हैं। सम्यग् शब्द आदि में "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र में कहा है। वहाँ से सम्यग् शब्द को ग्रहण करना चाहिए। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं, ऐसा सम्बन्ध लगाना चाहिए। अतः सम्यग्ज्ञान है, इससे विपरीत विपर्यय होता है। मिथ्याज्ञान अज्ञानरूप होता है। जैसे कड़वी तुम्बी में रखने से दूध कटु हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यादर्शन के संसर्ग से इन ज्ञानों में विपरीतता आ जाती है। यहाँ पर शुष्क तुम्बी के मध्यगत बीजों के निकल जाने पर जो अवशिष्ट (शेष बची) बुक्किका होती है, उसको रज कहते हैं। यदि उस रज सहित तुम्बिका में दूध रखा जाता है तो वह दूध कटु हो जाता है। यदि उस तुम्बिका को संशोधित कर लिया है, रज को निकाल कर फेंक दिया है तो उसमें रखे हुए दूध, घृत आदि पदार्थ कटु नहीं होते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के नष्ट हो जाने पर जीव में मति आदि ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं होते।

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।

अर्थ-विद्यमान और विद्यमान पदार्थ को विशेषता के बिना अपनी इच्छानुसार जानने के कारण मिथ्यादृष्टि का ज्ञान उन्मत्त अर्थात् पागल पुरुष के ज्ञान की तरह है।

सत् (प्रशस्त) तत्त्वज्ञान, असत्-अप्रशस्त तत्त्वज्ञान को सत्-असत् कहते हैं। तत्त्व और अतत्त्व का निर्णय न करके स्वेच्छा से जो ग्रहण होता है, जैसे उन्मत्त मानव सत्-असत् का निर्णय न करके इच्छानुसार कुछ भी बकवास

करता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुछ भी बोलता है, तत्त्व-अतत्त्व का भेद नहीं कर सकता।

सत् और असत् सम्बन्धी विशेषता न करके यदृच्छा से ग्रहण करने से विपर्यय होता है। कदाचित् रूपादिक विद्यमान है तो भी उन्हें अविद्यमान मानता है और कदाचित् अविद्यमान वस्तु को भी विद्यमान कहता है। कदाचित् सत् को सत् और असत् को असत् ही मानता है। यह सब निश्चय मिथ्यादर्शन के उदय से होता है। जैसे पित्त के उदय से आकुलित बुद्धिवाला मनुष्य माता को भार्या और भार्या को माता मानता है। जब अपनी इच्छा की लहर के अनुसार माता को माता और भार्या को भार्या भी मानता है। घोड़े को गाय और गाय को घोड़ा मानता है। कभी अश्व को अश्व और गाय को गाय भी मानता है। तब भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। इस प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान का भी रूपादिक में विपर्यय जानना चाहिए।

3.8 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं इसके प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 2—भवप्रत्यय अवधिज्ञान किसे कहते हैं, ये किनके होता है ?

प्रश्न 3—क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान किसे कहते हैं ये किनके होता है ?

प्रश्न 4—क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान के कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 5—मनःपर्यय ज्ञान किसे कहते हैं इसके भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 6—केवलज्ञान का विषय क्या है ?

प्रश्न 7—एक जीव में एक साथ कम से कम और अधिक से अधिक कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

पाठ-4 – चारों अनुयोगों की सार्थकता

4.1 जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से निर्गत पूर्वापर विरोधरहित जो वचन हैं उन्हें आगम कहते हैं। उसके ही प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये चार भेद हैं। इन चारों अनुयोगों को 'चार वेद' भी कहते हैं। ये चारों ही अनुयोग सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये कारण हैं। सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व को मल आदि दोषों से रहित निर्दोष करने वाले हैं और उसकी रक्षा करने में भी पूर्ण सहायक हैं। ऐसे ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भी प्रकट करने वाले हैं तथा इनकी वृद्धि और रक्षा करके अंत में समाधि की सिद्धि कराने वाले हैं।

ये चारों अनुयोग मोक्षमार्ग में चलने के लिये दीपक हैं। यह अनुयोगरूप द्रव्यश्रुत ही भावश्रुत के लिये कारण है और यह भावश्रुत केवलज्ञान के लिये बीजभूत है। अतएव इस श्रुतज्ञान की उपासना का फल केवलज्ञान का प्राप्त होना ही है।

जैसा कि कहा भी है—“इस शास्त्ररूपी अग्नि में भव्यजीव तपकर विशुद्ध हो जाता है और दुष्टजन अंगार के समान तप्त हो जाते हैं अथवा भस्म के समान भस्मीभूत हो जाते हैं।” अर्थात् वे शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करके उसे शस्त्र बना लेते हैं अतः क्रम से और गुरुपरम्परा से शास्त्रों को पढ़ना चाहिये। उनके अर्थ को सही समझकर अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेना चाहिए।)

सम्पूर्ण जिनागम द्वादशांगरूप है इसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं। भगवान् महावीर स्वामी की प्रथम देशना विपुलाचल पर्वत पर श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन हुई थी उस समय सप्तऋद्धि से समन्वित गौतम गणधर को पूर्वाण्ह में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। उसी दिन अपराण्ह में अनुक्रम से उन्हें पूर्वों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया। पुनः मनःपर्यय ज्ञानधारी श्री गणधर देव ने उसी दिन रात्रि के पूर्ण भाग में अंगों की और पिछले भाग में पूर्वों की ग्रंथ रचना की।”

इस ग्यारह अंग चौदह पूर्व रूप श्रुतसमुद्र में कोई विषय अपूर्ण नहीं है। अष्टांग निमित्त, अष्टांग आयुर्वेद, मंत्र, तंत्र आदि सभी विषय इसमें आ जाते हैं। आज द्वादशांगरूप से श्रुतज्ञान उपलब्ध नहीं है। हाँ, अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के चयनलब्धि नामक चतुर्थ अधिकार का ज्ञान श्री धरसेनाचार्य को था जिनके प्रसाद से वह षट्खण्डागमरूप ग्रंथ में निबद्ध हुआ है।

इस द्वादशांगरूप शास्त्र को आचार्यों ने चार अनुयोगों में विभक्त किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। ये चारों ही अनुयोग भव्य जीवों को रत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारण हैं। इन अनुयोगरूप द्रव्यश्रुत से उत्पन्न हुआ भावश्रुत परम्परा से केवलज्ञान का कारण है। कहा भी है—

‘विणयेण सुदमधीदं यदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।

तमुअवट्टादि परभवे केवलणाणं च आहवदि।।

अर्थात् विनयपूर्वक पढ़ा हुआ शास्त्र यदि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी जन्मांतर में पूरा का पूरा उपस्थित हो जाता है और अंत में केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है।

यह समस्त श्रुतज्ञान की महिमा है न कि एक किसी अनुयोग की। श्री कुंदकुंद देव कहते हैं—

“जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।

जरमरणबाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।

जिनेन्द्रदेव के वचन औषधिरूप हैं, ये विषयसुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतस्वरूप हैं, इसीलिये ये जन्म-मरणरूप व्याधि का नाश करने वाले हैं और सर्वदुःखों का क्षय करने वाले हैं।

4.2 श्रुतज्ञान महान् वृक्ष सदृश है—

अनादिकाल की अविद्या के संस्कार से प्रत्येक मनुष्य का मन मर्कट के समान अतीव चंचल है, उसको रमाने के लिये श्री गुणभद्रसूरि इस श्रुतज्ञान को महान् वृक्ष की उपमा देते हुये कहते हैं—

“अनेकांतात्मार्यप्रसवफलभारातिविनते। वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।

समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं। श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।

जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनोंरूप पत्ते से व्याप्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कन्ध वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमण करावे।

इस श्रुतस्कंध वृक्ष में चारों ही अनुयोग समाविष्ट हैं। चूँकि एक अनुयोग से होने वाला ज्ञान अपूर्ण ही है।

4.3 प्रथमानुयोग—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।

बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः।

समीचीन ज्ञान चारों पुरुषार्थों को कहने वाले चरित—पुराणों को प्रथमानुयोग कहता है। यह प्रथमानुयोग स्वयं पुण्यस्वरूप है और बोधिरत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि का खजाना है।

इस संदर्भ में श्री प्रभाचंद्राचार्य ने कहा है—वह प्रथमानुयोग अर्थाख्यान अर्थात् परमार्थ विषय का प्रतिपादन करने वाला है, इसके सुनने से पुण्य उत्पन्न होता है अतः पुण्य का हेतु होने से यह ‘पुण्य’ कहलाता है। नहीं प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होना बोधि है, प्राप्त हुये रत्नत्रय को अंतर्पर्यंत पहुँचा देना समाधि है अथवा धर्म-शुक्ल ध्यान को भी समाधि कहते हैं अर्थात् इस अनुयोग को सुनने वालों को सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति होती है और धर्मध्यान आदि भी होते हैं।

4.3.1 तीर्थंकर प्रमाण हैं यह प्रथमानुयोग ही बतायेगा—प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या में हुये हैं। उन्होंने असि, मसि आदि छह प्रकार से आजीविका का उपाय बतलाया था। दीक्षा लेकर मुनिमार्ग को दिखाया था। भगवान महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर थे। वे आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व इस भारत वसुन्धरा पर जन्मे थे, उन्होंने बारह वर्ष तक तपश्चरण करके केवलज्ञान को प्राप्त किया। इत्यादि रूप से तीर्थंकरों के आदर्श जीवन को जाने बगैर उनके वचनों में श्रद्धा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। अतएव जिनागम को प्रमाण मानने के लिए प्रथमानुयोग का अध्ययन अतीव आवश्यक हो जाता है।

शंका—इन कथा पुराणों से सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

समाधान—सम्यक्त्व के दश भेदों में जो ‘उपदेश सम्यग्दर्शन’ नाम का तीसरा भेद है उसका लक्षण यही है कि ‘तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषों के उपदेश को सुनकर जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसे ‘उपदेश सम्यग्दर्शन’ कहते हैं।

इसी प्रकार से जातिस्मरण आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व के उदाहरणों को प्रथमानुयोग में ही देखा जा सकता है।

विदेह क्षेत्र में प्रभाकरी नगरी के समीप पर्वत पर राजा प्रीतिवर्धन ठहरे हुए थे। वहाँ पर मासोपवासी पिहितास्रव मुनिराज को आहारदान दिया। उस समय देवों द्वारा पंचाश्चर्य किये गये। इस दृश्य को देखकर वहीं पर्वत पर एक सिंह था उसे जातिस्मरण हो गया उसने सम्यक्त्व और श्रावक के व्रत ग्रहण कर चतुराहार त्यागकर सल्लेखना ग्रहण कर ली। कालान्तर में वही सिंह का जीव भरत चक्रवर्ती हुआ है।

नकुल, सिंह, वानर और सूकर इन चारों जीवों को भी आहारदान देखने से जातिस्मरण हो गया जिससे वे सभी संसार से विरक्त हो दान की अनुमोदना के फल से भोगभूमि में आर्य हुये। अनंतर आठवें भव में श्री वृषभदेव के पुत्र होकर मोक्ष चले गये।

मारीचि कुमार ने मान कषाय से मिथ्यात्व का प्रचार करके असंख्य भवों तक त्रस स्थावर योनियों में परिभ्रमण किया। अनंतर सिंह की पर्याय में जब वह हरिण का शिकार कर रहा था। उस समय अजितंजय और अमितगुण नामक चारण मुनियों के द्वारा धर्मोपदेश को प्राप्तकर सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया। श्रीगुणभद्रसूरि कहते हैं कि— ‘सिंह की आँखों से बहुत देर तक अश्रुरूपी जल गिरता रहा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो हृदय में सम्यक्त्व को स्थान देने के लिए मिथ्यात्व ही बाहर निकल रहा है।

इस पर्याय में सम्यक्त्व, देशसंयम और बालपण्डितमरणरूप सल्लेखना को ग्रहण कर उस सिंह ने देव पद प्राप्त किया। इस सिंह से दशवें भव में वह भगवान महावीर हुआ। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मुनियों का दर्शन, उनका उपदेश सम्यक्त्वोत्पत्ति में कारण बन गया।

किसी समय अरविंद महाराज ने विरक्त होकर दीक्षा ले ली और संघ सहित सम्मेदशिखर की यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में एक वन में प्रतिमायोग से वे मुनि विराजमान हो गये। उन्हें देखकर मदोन्मत्त हाथी (मरुभूति का जीव) उन्हें मारने के लिए दौड़ा। किन्तु उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया। पुनः उसने शांतचित्त होकर मुनिराज के मुख से धर्मोपदेश श्रवण कर श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये। इस हाथी की पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त कर वह जीव उससे आठवें भव में श्री पार्श्वनाथ तीर्थकर हुआ।

इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुरुओं के उपदेश से मनुष्य ही नहीं तिर्यच भी लाभ लेते थे तथा आचार्य भी संघ सहित सम्मेदशिखर की यात्रा करते थे।

इन अचेतन भी तीर्थस्वरूप सम्मेदशिखर आदि की भक्ति में श्री गौतमस्वामी ने बहुत ही सुंदर सूत्रवाक्यों का उच्चारण किया है यथा—

“उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि, सिद्धिणिसीहियाओ अट्टावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलयम्मि।”

‘ऊर्ध्व, अधो, मध्यलोक में जो सिद्धायतन हैं—कृत्रिम-अकृत्रिम जिनमंदिर हैं और जो सिद्धों की निषीधिकार्यें हैं अर्थात् निर्वाण क्षेत्र हैं, ये कौन-कौन हैं ? अष्टापद—कैलाशपर्वत, सम्मेदपर्वत, ऊर्जयंत—गिरनारपर्वत, चम्पानगरी, पावानगरी, मध्ययानगरी और हस्तिवालिकामंडप ये मुक्त जीवों की निर्वाणभूमि हैं, इनसे अतिरिक्त और भी जो निर्वाणभूमियाँ इस ढाई द्वीप में हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।’

शंका—मुनि तीर्थों की वंदना करें किन्तु वे किसी विधान आदि उत्सवों में तो सम्मिलित नहीं हो सकते ?

समाधान—क्यों नहीं हो सकते ? देखिये गुणभद्रसूरि कहते हैं कि “अयोध्या के अधिपति, ‘आनंद’ महावैभव के धारक मण्डलेश्वर राजा हुये हैं। इन्होंने किसी समय वसंत ऋतु की आष्टान्हिका में ‘महापूजा’ कराई। उसे देखने के लिये वहाँ पर विपुलमति नाम के महामुनिराज पधारे थे। इन्होंने राजा के प्रश्नानुसार ‘अचेतन रत्नादि की मूर्तियाँ अचिन्त्य फल देने वाली हैं’ इस विषय पर बहुत ही विस्तृत उपदेश दिया था पुनः अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करते हुये सूर्य विमान में स्थित अकृत्रिम जिनालय का वर्णन किया था।” वह सब सुनकर आनंदराजा ने भक्ति से विभोर हो सूर्यविमान बनवाकर उसमें स्थित चैत्यालय बनवाया और उसमें जिनप्रतिमायें विराजमान करके उसकी नित्यपूजा करने लगा। राजा को उस सूर्य के मंदिर की पूजा करते देख अज्ञानी लोग उसके रहस्य को न समझकर सूर्य को अर्घ्य चढ़ाना आदि पूजा करने लगे यह ‘सूर्य पूजा’ तभी से चल पड़ी है’ इत्यादि।” ये ही आनंद महाराज तृतीय भव में पार्श्वनाथ तीर्थकर हुये हैं।

यदि हम प्रथमानुयोग का स्वाध्याय नहीं करेंगे तो हमारी इन शंकाओं का समाधान कैसे होगा ?

इन पुराणों के पढ़ने से तत्काल में महान् पुण्य का संचय होता है और अशुभकर्मों की निर्जरा हो जाती है। चूँकि ये भी जिनवचन हैं। बारहवें अंग के पाँच भेदों में से यह 'प्रथमानुयोग' तृतीय भेदरूप है इसलिये द्वादशांग के अंतर्गत ही है।

पद्मपुराण में मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र का जीवन पढ़कर सहज ही भावना उत्पन्न हो जाती है कि उनके गुणों में से कुछ भी गुणों का अंश मुझे प्राप्त होने का सौभाग्य मिले। रावण के दुराग्रह को पढ़कर कोई भी मनुष्य रावण बनने का इच्छुक नहीं होता है प्रत्युत् रामचंद्र के जीवन को ही अपने में उतारने की भावना करता है। पिता के आदेश को पालन करने के लिये अपने लिये उचित और योग्य ऐसे राज्य का मोह छोड़ना व वन में विचरण करना यह उदाहरण हर किसी को पिता की आज्ञा पालने की शिक्षा देता है।

सीता के आदर्श जीवन से महिलायें अपने सतीत्व की रक्षा के प्रति उत्साहित होती हैं। अहो! शील का माहात्म्य क्या है ? कि जिसने अग्नि को क्षणमात्र में जल का सरोवर बना दिया। कुलीन महिलायें इन पुराणों के आधार से ही अपने शील रत्न को सुरक्षित रख लेती हैं।

'पिता के लिये अपने सर्वस्व को तिलांजलि दे देना यह भीष्म पितामह का आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतरूप कठोर त्याग पितृभक्ति को उद्वेलित किये बिना नहीं रहता है।'³ लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति देखकर भाई-भाई आपस में प्रेम करने का उदाहरण ग्रहण करते हैं।

ब्राह्मी, सुंदरी, अनंतमती, चंदना आदि के उदाहरण बालिकाओं को ब्रह्मचर्य व्रत की प्रेरणा के स्रोत बन जाते हैं। इन आदर्श नारियों का इतिहास पढ़ने वाली महिलायें कभी भी सूर्पनखा बनने की भावना नहीं करती हैं प्रत्युत् चंदना, मनोरमा बनने की ही भावना भाती हैं।

अकलंक निकलंक नाटक देखने वाले नवयुवकों में धर्म की रक्षा के लिए बलिदान का भाव जाग्रत हो उठता है।

जैसे — आजकल सिनेमा और टेलीविजन के अश्लील दृश्य तथा रेडियो के अश्लील गाने सुनकर नवयुवक व नवयुवतियाँ चारित्र्य च्युत होते हुये दिखाई देते हैं ऐसे ही धार्मिक कथायें और नाटक भी बेमालूम कुछ न कुछ संस्कार अवश्य ही छोड़ देते हैं।

यद्यपि यह नियम है कि पानी का प्रवाह स्वभावतः नीचे की ओर ही जाता है। प्रयोग से, यंत्रों के निमित्त से ही वह ऊपर जाता है। उसी प्रकार से मन अनादिकालीन अविद्या के संस्कार से सदैव नीचे — अशुभ प्रवृत्तियों की ओर ही झुकता है उसको ऊपर की ओर उठाने के लिये इन महापुरुषों का आदर्श सामने रखना ही चाहिये। इसका अभिप्राय यही है कि प्रतिदिन प्रथमानुयोग ग्रंथ अवश्य पढ़ने चाहिए। इससे चारित्र्य की प्रेरणा मिलती है तथा अपने में अन्यो को चारित्र्य में स्थिर करने की युक्ति सूझती है।

'एक बार राजा श्रेणिक ने समवसरण में एक मुनि के बारे में प्रश्न किया, उत्तर में श्री गौतमस्वामी ने कहा — राजन्! तुम शीघ्र ही वहाँ जावो, उन मुनि के ध्यान में इस समय रौद्र भावना चल रही है यदि अंतर्मुहूर्त काल यही स्थिति रही तो उनके नरकायु का बंध हो जायेगा अतः तुम जाकर उन्हें संबोधन करो। राजा श्रेणिक ने जाकर उन्हें संबोधित किया उसी समय वे मुनि रौद्रध्यान से हटकर धर्मध्यान में आये और तत्क्षण ही शुक्लध्यान में आरुढ़ हो गये, अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया।'

सुकुमाल, गजकुमार आदि मुनियों ने उपसर्ग के समय भी धैर्य से अपने परिणामों को संभाला और सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। सल्लेखना के समय क्षपक मुनि को निर्यापकाचार्य ऐसे-ऐसे उदाहरण सुनाकर धर्मभावना में स्थिर करते हैं। अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर करने के लिये श्री विष्णुकुमार महामुनि ने अपना वेष छोड़ दिया और अपनी विक्रिया ऋद्धि के बल से उन मुनियों की रक्षा की। यह घटना भी धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य का

एक ज्वलंत उदाहरण ही है।

4.3.2 तीर्थंकर होने वाले महापुरुष भी कई भव तक पुरुषार्थ करते हैं !

सम्यग्दर्शन होते ही मोक्षप्राप्ति सुलभ नहीं है। तीर्थंकरादि महापुरुषों ने भी कई भव तक दीक्षा ले-लेकर घोर तपश्चरण किया है जब कहीं सिद्धि मिली है। यह बात प्रथमानुयोग से ही तो जानी जाती है। देखिये—

भगवान वृषभदेव के जीव ने महाबल विद्याधर की पर्याय में स्वयंबुद्ध मंत्री के सम्बोधन से आठ दिन आष्टान्हिक पूजा करके 22 दिन की सल्लेखना ग्रहण की, पुनः ललितांग देव हुआ था। वहाँ से आकर वज्रजंघ राजा होकर श्रीमती रानी के साथ चारण मुनियों को आहार देकर जो पुण्य संचित किया उसके फलस्वरूप भोगभूमि में उत्पन्न हुये, तब तक उन्हें सम्यक्त्व नहीं था। भोगभूमि में मुनियों के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त किया पुनः श्रीधर देव हुये, अनंतर सुविधि राजा होकर पुत्र (श्रीमती के जीव केशव) के मोह में पड़कर दीक्षा न ले सकने के कारण श्रावक के उत्कृष्ट व्रत (क्षुल्लक) तक धारण करके अंत में दीक्षा लेकर सल्लेखना से मरण कर अच्युतेन्द्र हुये। पुनः वज्रनाभि चक्रवर्ती होकर छह खंड का राज्य भोगकर उसका त्याग करके दीक्षित हो गये। उनके पिता वज्रसेन तीर्थंकर थे उनके समवसरण में दीक्षा लेकर 'सम्पूर्ण द्वादशांगरूप' श्रुत का अध्ययन करके सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति बांध ली व जिनकल्पी मुनि होकर विचरण करने लगे। एक समय ध्यान में आरूढ़ थे उस समय उपशम श्रेणी पर चढ़ गये और ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर यथाख्यात चारित्र के धारक पूर्ण वीतरागी हो गये। पुनः वहाँ से उतरकर वापस सातवें-छठे गुणस्थान में आ गये।

'पुनरपि द्वितीय बार उपशम श्रेणी में आरोहण करके पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान को पूर्णकर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुये। उसी समय उनकी आयु पूर्ण हो गई और उस ग्यारहवें गुणस्थान में मरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये।' वहाँ से चयकर भगवान वृषभदेव हुये हैं।

इस प्रकार से भगवान के इन दश भवों को पढ़ने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि जब तीर्थंकर होने वाले महापुरुषों को इतनी तैयारी करनी पड़ती है। अहो! पूर्वभव में दो बार उपशम श्रेणी में आरोहण करने की उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त कर लेना पुनः अविरति हो जाना कितनी विचित्रता है। फिर तीर्थंकर के भव में भी हजार वर्ष तक तपश्चरण करना पड़ा तब कहीं जाकर घातिया कर्मों के नाश हेतु क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर पाये और उत्कृष्ट आत्मध्यान के ध्याता हो पाये।

'महाबल विद्याधर के चार मंत्रियों में तीन मंत्री मिथ्यादृष्टि थे उनमें से संभिन्नमति और महामति तो मिथ्यात्व के पाप से निगोद में चले गये और शतमति नरक में चला गया। उस नरक में जाने वाले मंत्री के जीव को तो श्रीधर देव ने धर्म का उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा दिया किन्तु निगोद में कैसे सम्बोधन दिया जा सकता है ?'

इस उदाहरण को पढ़कर मिथ्यात्व से कितना भय उत्पन्न होता है, अहो! यदि मैं किंचित् भी जिनवाणी के प्रति अश्रद्धा करके मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाऊँगा तो पुनः यदि निगोद में चला गया तो क्या होगा ? मुझे कौन उपदेश देगा ? इसलिये शास्त्र के वाक्यों पर अश्रद्धा करके अपने सम्यक्त्व को नहीं गंवाना चाहिये।

जिनप्रतिमा के अपमान से अंजना ने बाईस वर्ष तक पति वियोग का दुःख सहन किया। किंचित् मुनिनिंदा के पाप से वेदवती ने जो निकाचित बंध किया उसके फलस्वरूप सीता की पर्याय में लोकापवाद को प्राप्त होकर देश निष्कासन का दुःख सहन किया। लक्ष्मीमती आदि अनेकों महिलाओं ने मुनियों का अपमान करके कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर तिर्यच योनियों के और नरकों के घोर दुःख सहे हैं। पुनः मुनियों के उपदेश से रोहिणी व्रत, सुगंधदशमी व्रत आदि के अनुष्ठान से उत्तम गति पाई है। मैनासुंदरी ने पति के कुष्ठ रोग को दूर करने के लिए मुनि के उपदेश से सिद्धचक्र विधान का अनुष्ठान किया था। मैनासुंदरी भी सम्यग्दृष्टि थी और वैसा संकट दूर करने का उपाय बतलाने वाले मुनि भी

सम्यग्दृष्टि भावश्रमण ही थे।

राजा सुभौम ने जीवन के लोभ से महामंत्र का अपमान कर सप्तम नरक को प्राप्त कर लिया। जीवंधर के द्वारा दिये गये महामंत्र को सुनकर कुत्ते ने प्राण छोड़े तो यक्षेन्द्र हो गया और जीवन भर जीवंधर स्वामी के प्रति कृतज्ञ होकर उपकार करता रहा। रात्रि भोजन त्याग करने मात्र से सियार ने तिर्यच योनि छोड़कर मनुष्य पर्याय पाकर प्रीतिकर कुमार होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार से पुण्य और पाप के फलस्वरूप नाना उदाहरणों को देखकर सहज ही पाप से भय उत्पन्न होता है तथा धर्म में श्रद्धा, अनुराग और गाढ़ भक्ति जाग्रत हो जाती है।

अतः श्रावकों को ही नहीं, मुनि-आर्यिकाओं को भी प्रतिदिन प्रथमानुयोग के ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

4.4 करणानुयोग—

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च॥

आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च॥

जो श्रुतज्ञान लोक-अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को और चतुर्गतियों के परिवर्तन को दर्पण के समान जानता है उसे करणानुयोग कहते हैं।

जिसमें जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। यह तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण है। इससे परे चारों तरफ अनंतानंत अलोकाकाश है। इस लोक के मध्य में एक राजू की चौड़ाई में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबसे प्रथम बीचोंबीच में जम्बूद्वीप है। इत्यादि रूप से जो लोक का वर्णन तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में वर्णित है, नरक, स्वर्ग, सिद्धशिला आदि का जो भी वर्णन है उसको पढ़कर पूर्ण आस्तिक्य भावना रखना ही सम्यग्दर्शन है। इस मध्यलोक के अंतर्गत ढाईद्वीप में पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं। वहीं पर जन्म लेने वाले मनुष्य मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकते हैं अन्य नहीं।

सुषमासुषमा आदि छह कालरूप युग परिवर्तन को समझकर, चतुर्गतियों के परिभ्रमण को तथा पंच परावर्तन को पढ़कर संसार से भय उत्पन्न होता है। जीवों के कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणा आदि को भी समझना चाहिए। तभी तो जीवों की दया का पूर्णतया पालन किया जा सकता है। अध्यात्म ग्रंथ नियमसार में श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

“कुलजोणिजीवमगणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।

तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होदि पढमवदं।”

कुल, योनि, जीव समास और मार्गणा आदि स्थानों में जीवों को जान करके उनके आरंभ में निवृत्तिरूप परिणाम का होना प्रथम अहिंसा महाव्रत है।

यह सब वर्णन इस करणानुयोग के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। खेद है कि आजकल कुछ लोग गुणस्थानों के लक्षण को भी नहीं समझते हैं और समयसार जैसे महान् ग्रंथों को बगल में दबाए रहते हैं। सचमुच में वे लोग अध्यात्म के मर्म को न समझकर अपनी आत्मा की ही वंचना कर लेते हैं। गुणस्थानों को समझने से ही सराग चारित्र कहां तक है और वीतराग चारित्र कहां से शुरू होता है इसकी जानकारी मिलती है।

श्री कुंदकुंद स्वामी ने जीवों की विभाव पर्यायों का वर्णन करते हुये कहा है कि मनुष्य के दो भेद हैं— कर्मभूमिज और भोगभूमिज। नारकी सात पृथिवियों के भेद से सात प्रकार के हैं, तिर्यच चौदह जीवसमास की अपेक्षा चौदह प्रकार के हैं तथा चतुर्णिकाय की अपेक्षा देव चार प्रकार के हैं। इन सबका विस्तार से वर्णन लोकविभाग ग्रंथों से जान लेना चाहिये।

संस्थानविचय धर्मध्यान भी करणानुयोग के अध्ययन से ही किया जाता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए जो करण लब्धि होती है तथा चारित्र के लिये जो लब्धि होती है, इनका सविस्तार वर्णन भी करणानुयोग ही बतलाता है। किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ बंधती हैं, कितनी उदय में रहती हैं और कितने की सत्ता रहती है इत्यादि विवरण भी इसी अनुयोग से जाना जाता है। करणसूत्रों के द्वारा गणित का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन परिणामों की एकाग्रता के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है।

आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की पीठ में एक बार अदीठ नाम का भयंकर फोड़ा हुआ था। उसकी शल्य चिकित्सा के समय सभी चिन्तित थे कि महाराज इतनी वेदना को कैसे झेलेंगे। आचार्यश्री ने अपना उपयोग कर्म प्रकृतियों के बंध-उदय आदि के गणित में लगा लिया जिससे उन्हें उस विषय में तन्मयता हो जाने से डाक्टर ने सफलतापूर्वक आपरेशन कर दिया। इन प्रकृतियों के उदय आदि के चिंतन के समय विपाकविचय धर्मध्यान होता है।

यह जीव सम्यक्त्व व संयम को प्राप्त कर भावलिंगी श्रमण शुद्धोपयोगी आत्मध्यानी बनकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी चला जाता है। पुनः वहाँ से गिरकर कदाचित् मिथ्यात्व में आकर यदि एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में चला जाता है तो वह पुनः संसार में कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक परिभ्रमण करता रहता है। इन सब प्रकरणों को पढ़कर बोधि को प्राप्त कर उसकी सुरक्षा के लिये पुरुषार्थ जाग्रत होता है और मिथ्यात्व से भय उत्पन्न होता है।

इस प्रकार से यह करणानुयोग भी सम्यक्त्व व संयम का कारण है। इसके प्रसाद से रत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा होती रहती है। इस विषय में भी प्रमाद न करके इस अनुयोग का सतत अध्ययन करना चाहिये।

4.5 चरणानुयोग—

गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।

चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥

जो सम्यग्ज्ञान श्रावक और अनगार के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का साधन है ऐसे शास्त्रों को आचार्य चरणानुयोग आगम कहते हैं।

श्री गौतमस्वामी ने मुनियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'श्रुतं मे आयुष्मन्तः।' ऐसा संबोधन करके स्पष्ट कहा है कि मुनियों के महाव्रत आदि मुनिधर्म का तथा श्रावक-श्राविकाओं के बारह व्रत, सप्त व्यसन त्याग, ग्यारह प्रतिमा आदि श्रावक धर्म का भगवान महावीर ने उपदेश दिया है और हे आयुष्मान् भव्यों! मैंने स्वयं सुना है।

श्री कुंदकुंददेव भी चारित्रपाहुड़ में कहते हैं—

गाणं दंसणं सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं।

मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्मा के गुण हैं। वह चारित्र इनकी शुद्धि को करने वाला है और मोक्ष आराधना का कारण है ऐसे चारित्र प्राभृत को मैं कहूँगा।

पुनः सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण ऐसे दो भेद करके सम्यक्त्वचरण में सम्यक्त्व के आठ अंग आदि को लिया है तथा संयमचरण के मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म की अपेक्षा दो भेद करके श्रावकों के बारह व्रतों का वर्णन किया है।

और तो क्या द्वादशांग में भी आचारांग नामक अंग सबसे प्रथम अंग है जिसमें मुनियों के चारित्र का सांगोपांग वर्णन रहता है।

भगवान के समवसरण में भी बारह सभाओं में से भगवान के सन्मुख पहली सभा में मुनिगण ही विराजते हैं चूँकि भगवान के उपदेश को साक्षात् ग्रहण करके मोक्ष की सिद्धि करने वाले वे ही हैं।

बिना सम्यक्त्व व बिना चारित्र के किसी को 'पात्र' संज्ञा नहीं है। जीवंधर स्वामी वन में विचरण कर रहे थे। अकस्मात् उनके मन में अपने बहुमूल्य वस्त्र और अलंकारों को दान कर देने का भाव जाग्रत हुआ उस समय उन्होंने

सामने आते हुए एक कृषक को धर्म का उपदेश देकर पाँच अणुव्रत ग्रहण कराये पुनः उसे आभूषणों का दान कर दिया। चूँकि अपात्र में दिया गया दान निरर्थक है और कुपात्र में दिया गया दान कुफल को देने वाला है।

यह चारित्र ही ज्ञान को परमावधि, सर्वावधि तथा मनःपर्यय ज्ञान बना सकता है पुनः आगे केवलज्ञान भी करा सकता है। इस चारित्र के बिना असंयमी मोक्षमार्गस्थ नहीं है।

4.5.1 असंयत के मोक्षमार्ग नहीं है—

श्री कुंदकुंददेव स्वयं कहते हैं—

ण हि आगमेण सिद्धिदि सहहणं यदि वि णत्थि अत्थेसु।

सहहणादो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।

यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो आगम में सिद्धि नहीं होती है और पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असंयत है तो भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता है।

श्री अमृतचंद्र सूरि के वचन देखिये—

“.....ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अतः आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटैतैव।”

इसलिये संयमशून्य श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती है। इससे आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतपना ये तीनों ही युगपत् जिनके पास नहीं हैं उनके मोक्षमार्गत्व विघटित ही हो जाता है।

4.5.2 इस पंचमकाल में चारित्र का महत्त्व देखिये—

वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।

तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे।।

चतुर्थकाल में मुनि हजार वर्ष तपस्या करके जितने कर्मों की निर्जरा करते थे। आज पंचमकाल में हीन संहनन होने से एक वर्ष में उतने कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

इस चरणानुयोग के बिना चारित्र के महत्त्व को कौन बता सकता है ?

व्रतों में लगे हुये अतिचारों का शोधन, गुरु, विनय, वैयावृत्य, सोलह कारण भावनायें, दशलक्षण धर्म आदि का उपदेश चरणानुयोग ही देता है। व्रतों के भंग हो जाने पर उनमें पुनः उपस्थापना का आदेश इसी अनुयोग का है। प्रायश्चित्त विधि द्वारा व्रतों का प्रतिपादन करके दोषों का विशोधन यही अनुयोग करता है।

द्रव्यलिंगी मुनि भी इस चारित्र के सम्पर्क से लोक में पूजे जाते हैं। जैसे कि ‘पुष्पडाल’ मुनि व ‘भवदेव मुनि’ पूजे जाते थे। श्रावक उन्हें आहार देने में कोई अंतर नहीं करते थे।

4.5.3 व्रत और तप का माहात्म्य—

कुंदकुंदस्वामी ने यहाँ तक कह दिया है कि—

वरवयतवेहि सगो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।

छायातवट्टियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।।

व्रत और तप से स्वर्ग प्राप्त कर लेना श्रेष्ठ है किन्तु अव्रत और अतप से नरकगति में दुःख उठाना ठीक नहीं है। किसी की प्रतीक्षा में छाया और आतप में बैठने वाले जीवों के समान व्रत और अव्रत में महान अंतर है।

आगे कहते हैं कि— ‘जो देव और गुरु के भक्त हैं, साधर्मी और संयतों में अनुरागी हैं, सम्यक्त्व से सहित हैं ऐसे योगी ही ध्यान में रत हो सकते हैं।

जो अतिचार या अनाचार के भय से चारित्र ग्रहण नहीं करते हैं वे अपनी आत्मा की ही वंचना कर लेते हैं। सागार

धर्माभूत में कहते हैं—

समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः।

छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमंजसा।।

देश, काल, शक्ति आदि का विचार करके व्रत लेना चाहिए, ग्रहण किये हुये व्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये तथा यदि दर्प से अथवा प्रमाद से कदाचित् व्रत भंग हो जावे तो शीघ्र ही गुरु के पास प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत ग्रहण कर लेना चाहिए। ग्रंथकारों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—

‘जब तक आप किसी वस्तु का सेवन नहीं करते हैं तब तक के लिये भी आप यदि उसका त्याग कर देते हैं तो यदि कदाचित् कर्मवश उस त्याग सहित अवस्था में मरण हो गया तो वह परलोक में सुखी हो जाता है।

‘वसुभूति ब्राह्मण को दयामित्र सेठ ने धन के लोभ में मुनि बना दिया, कालान्तर में वह सच्चा भावलिंगी बन गया।’

सूर्यमित्र ब्राह्मण ने भी गिरी पड़ी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये दीक्षा ली थी किन्तु उस चारित्र के प्रसाद से वे भावलिंगी महाश्रमण हो गये।

शंका—आत्मतत्त्व के जान लेने से ही सिद्धि होती है तप आदि से शरीर को शोषण करने से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है ? चूँकि तप आदि में आकुलता होती है।

समाधान—तप में प्रारम्भ में अभ्यास के समय आकुलता अवश्य होती है। किन्तु अभ्यास के द्वारा वे सरल हो जाते हैं। फिर बिना कष्ट सहन किये मुक्ति असम्भव है। आचार्य श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।

तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।।

तपरहित ज्ञान और ज्ञानरहित तप दोनों भी अकार्यकारी हैं अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कराने में असमर्थ हैं अतः ज्ञान और तप से संयुक्त योगी ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। पुनः उसी बात को दृढ़ करते हुये कहते हैं।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।

णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि।।

जिनको नियम से मोक्ष होना है ऐसे तीर्थंकर भी जो कि दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्त में मनःपर्ययज्ञान से सहित हो जाते हैं तो भी वे तपश्चरण करते हैं ऐसा समझकर ज्ञानयुक्त होकर भी तपश्चरण करना चाहिये।

तपश्चरण आदि से जो शरीर को कष्ट नहीं देना चाहते उनके प्रति श्री कुंदकुंददेव क्या कहते हैं—

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए।।

सुख में भाया गया ज्ञान दुःख के आने पर नष्ट हो जाता है इसलिये योगी यथाशक्ति दुःखों के द्वारा अर्थात् अनशन-कायक्लेश आदि तपों के द्वारा आत्मतत्त्व की भावना करे।

आगे और भी कहते हैं कि ‘आहार, आसन और निद्रा को जीतकर तथा जिनमत के अनुसार गुरु के प्रसाद से समझकर निज आत्मा का ध्यान करना चाहिये।

चारित्र की उपेक्षा करके आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने की जो बात है वह कहाँ तक ठीक है। देखिये—

जाम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए ताम।

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।।

जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करता रहता है तब तक वह आत्मा को नहीं जानता है। विषयों से विरक्त हुआ योगी ही आत्मा को जानता है।

4.5.4 चारित्र सभी के द्वारा और सदा पूज्य है—रामचंद्र जैसे महापुरुष क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे फिर भी क्षयोपशम सम्यक्त्वी किन्तु उपचार से महाव्रतिनी ऐसी आर्थिकाओं की भी पूजा करते थे। त्याग की ही सर्वत्र पूजा देखी जाती है। गृहस्थी चाहे जितना ज्ञानी हो परन्तु उसकी पूजा का विधान आगम में नहीं है।

मूलाचार में भी श्री कुंदकुंद ने कहा है कि— ‘जो धीर पुरुष वैराग्य सहित हैं वे अल्प भी पढ़कर सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वैराग्य शून्य मनुष्य सर्व शास्त्र को पढ़कर भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं।’

श्री समन्तभद्रस्वामी ने भी आप्तमीमांसा में ज्ञान के एकान्त का निरसन बहुत ही सुंदर शब्दों में किया है—

‘यदि कहा जाय कि अज्ञान से नियम से बंध होता है, तो ज्ञेय वस्तु अनंत हैं, उनका ज्ञान न हो सकने से कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, तब तो जो उसके साथ बहुत-सा अज्ञान है वह बंध का कारण रहेगा, उससे भी मोक्ष नहीं हो पायेगा।

पुनः समाधान करते हुए कहते हैं कि—

‘अज्ञानात् मोहतो बंधो नाज्ञानाद्वीतमोहतः।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहतोऽन्यथा।।’

मोहयुक्त अज्ञान से बंध होता है, वीतमोह पुरुष के अज्ञान से बंध नहीं होता है। उसे (मोहरहित) अल्पज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है किन्तु मोहयुक्त ज्ञान से बंध ही होता है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वीतरागता को प्राप्त करने के लिये चारित्र ही आवश्यक है। उसके बिना आज तक कोई वीतरागी नहीं हुये हैं। ऐसा समझकर इस चरणानुयोग के आश्रय से चारित्र को ग्रहण करना चाहिये। पुनः सतत उसका मनन करते हुये चारित्र को निर्दोष निरतिचार बनाना चाहिए। श्रावकों का भी कर्तव्य है कि पहले देशचारित्र को ग्रहण कर सकल चारित्र की भावना भाते रहें यही क्रम मोक्ष का साधक है।

4.6 द्रव्यानुयोग—

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च।

द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।

द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव-अजीव तत्त्व का, पुण्य-पाप का और बंध-मोक्ष का श्रुत विद्या के प्रकाश से विस्तार रूप से प्रकाशन करता है।

यह द्रव्यानुयोग जीव के बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा रूप से तीन भेद करता है। अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का विस्तार से कथन करता है। पुण्य और पापरूप प्रकृतियों का वर्णन करता है और बंध-मोक्ष की व्यवस्था बतलाता है।

समयसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथ इसी अनुयोग में आते हैं।

शंका—पुण्य-पाप और बंध-मोक्ष की व्यवस्था को जानने से आत्महित कैसे होगा ? क्योंकि ये चर्चायें तो हमेशा करते ही आये हैं आत्महित तो आत्मा के ज्ञान से ही होगा ? कहा भी है—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स।।

‘सभी को काम, भोग और बंध की कथा हमेशा सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई हैं अतः वह सुलभ हैं किन्तु भिन्न आत्मा के एकत्व की उपलब्धि सुलभ नहीं है।’ अतः उसी की कथा करनी चाहिये।

समाधान—जब तक पुण्य-पाप और बंध-मोक्ष पदार्थों को नहीं समझेंगे तब तक पाप से व बंध के कारणों से

बचने का उपाय भी कैसे करेंगे तथा पुण्यरूप साधन सामग्री के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः इनका ज्ञान भी आवश्यक ही है। पुण्य में तीर्थंकर प्रकृति, वज्रवृषभनाराच संहनन आदि मोक्ष में सहायक हैं। यहाँ गाथा में काम, भोग, बंध से विषयभोग संबंधी कथा का भी अभिप्राय है अथवा बंध की कथा उन्हीं के लिए वर्जित है जो बंध के स्वरूप को पहले अच्छी तरह समझ चुके हैं।

इस प्रकार से प्रथमानुयोग से महापुरुषों का आदर्श ग्रहण कर करणानुयोग से संसार से भयभीत होकर चरणानुयोग के अवलम्बन से चारित्र को धारण कर द्रव्यानुयोग के बल से शुद्ध आत्मा का ध्यान करके श्रुतज्ञान का फल जो अच्युत (मोक्ष) पद की प्राप्ति है उसे हस्तगत करना चाहिये।

4.7 उपसंहार-

1. जिनेन्द्र भगवान के वचन का नाम आगम है वही जिनागम है। वह द्वादशांग रूप है।
2. वर्तमान में उपलब्ध षट्खंडागम और कषायपाहुड़ ये दोनों सिद्धांत ग्रंथ अंग-पूर्व के अंश रूप हैं।
3. समयसार, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आदिपुराण आदि शास्त्र भी द्वादशांग के अंश ही हैं अतः प्रामाणिक हैं।
4. प्रथमानुयोग के बिना तीर्थंकर आदिकों का इतिहास, पुण्य और पाप के फल तथा मोक्ष प्राप्त करने वालों के उदाहरण अन्यत्र नहीं मिल सकते हैं।
5. महापुरुषों के आदर्श बिना अपने जीवन को आदर्श व पवित्र बनाना कठिन ही होता है अतः प्रथमानुयोग अधिक उपयोगी है।
6. करणानुयोग से चतुर्गति के परिवर्तन, लोक का स्वरूप आदि जानकर नरकगति आदि से भय उत्पन्न होता है।
7. चरणानुयोग से चारित्र का लक्षण जानकर उसे धारण किया जाता है।
8. द्रव्यानुयोग से छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि को समझ कर आत्मद्रव्य को पुद्गल द्रव्य से पृथक करने का बोध होता है।
9. चारों अनुयोगों के बिना ज्ञान अपूर्ण और एकांगी है।

4.8 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1—चार अनुयोग कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 2—प्रथमानुयोग की विषय-वस्तु क्या है इनके किन्हीं चार ग्रंथों के नाम बताइये ?

प्रश्न 3—करणानुयोग किसे कहते हैं इनके किन्हीं चार ग्रंथों के नाम बताइये।

प्रश्न 4—चरणानुयोग की विषयवस्तु को बताते हुए इनके चार ग्रंथों का नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 5—द्रव्यानुयोग का स्वरूप बताइये, इस अनुयोग के प्रमुख चार ग्रंथों के नाम बताइये ?

जैनागम में न्याय

-संदर्भ ग्रंथ-

- | | |
|--|-------------------------------------|
| 1. तत्त्वार्थसूत्र | -आचार्य उमास्वामी |
| 2. सर्वार्थसिद्धि | -आचार्य पूज्यपाद |
| 3. न्याय विनिश्चय | -आचार्य अकलंकदेव |
| 4. क्षत्रचूड़ामणि | -आचार्य वादिभ सिंह |
| 5. आप्तमीमांसा | -आचार्य समन्तभद्रस्वामी |
| 6. परीक्षा मुख | -आचार्य माणिकनंदि |
| 7. तत्त्वार्थवृत्ति | -श्री श्रुतसागर सूरि |
| 8. न्याय दीपिका | -श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति |
| 9. आलाप पद्धति | -श्रीमद् देवसेनाचार्य |
| 10. अष्टसहस्री (स्याद्वाद
चिन्तामणी भाषा टीका) | -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी |
| 11. न्यायसार | -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी |
| 12. ज्ञानामृत (भाग 2) | -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी |
| 13. प्रवचन निर्देशिका | -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी |
| 14. जैन न्याय की भूमिका | -डॉ. दरबारी लाल कोठिया |
| 15. जैन दर्शन | -डॉ. महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य |
| 16. जैन न्याय | -डॉ. कैलाशचन्द्र जैन |
| 17. प्राकृत विद्या | -अंक (अप्रैल-जून 2013) |
| 18. www.encyclopediaofjainism.com | |

प्रश्नावली (Questions Bank)

- प्रश्न 1 —न्याय विद्या का स्वरूप क्या है ?
- प्रश्न 2 —जैन परम्परा में न्याय विद्या को किस तरह से बताया है ?
- प्रश्न 3 —न्याय विद्या की उपयोगिता बताइये ?
- प्रश्न 4 —जैन न्याय विद्या की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ?
- प्रश्न 5 —प्रथम तार्किक आचार्य कौन हुए हैं ? उन्हें कौन सी उपाधि मिली थी ?
- प्रश्न 6 —तर्क की परिभाषा दीजिए ?
- प्रश्न 7 —दर्शन और तर्क में अन्तर बताइए ?
- प्रश्न 8 —तर्क का उपयोग किन प्रयोजनों के लिए किया जाता है ?
- प्रश्न 9 —तर्क के पक्ष में जैनाचार्यों के कोई चार प्रमुख संदर्भ दीजिए ?
- प्रश्न 10 —आचार्य श्री समन्तभद्र के अनुसार विभिन्न दर्शनों में समन्वयता का सूत्र क्या है ?
- प्रश्न 11 —न्याय शास्त्र का अध्ययन क्यों आवश्यक है ?
- प्रश्न 12 —न्याय विद्या के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख कीजिए ?
- प्रश्न 13 —वाद-विवाद और परीक्षा में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?
- प्रश्न 14 —जैन न्याय विद्या कब से प्रारंभ हुई ? इसके प्रणेता किनको बताया गया ?
- प्रश्न 15 — स्वामी समन्तभद्र की प्रमुख कृतियों का उल्लेख कीजिए ?
- प्रश्न 16 —आचार्य अकलंकदेव का संक्षिप्त परिचय देते हुये उनके द्वारा रचित प्रमुख न्याय ग्रंथों का उल्लेख कीजिए ?
- प्रश्न 17 —आचार्य विद्यानन्द रचित टीकात्मक और स्वतन्त्र कृतियों का उल्लेख कीजिए ?
- प्रश्न 18 — बीसवीं शती के प्रमुख जैन तार्किकों के योगदान का वर्णन कीजिए ?
- प्रश्न 19 —परीक्षामुख सूत्र ग्रंथ के बारे में संक्षिप्त विवरण दीजिए ?
- प्रश्न 20 —न्याय दीपिका ग्रंथ की विषय वस्तु का संक्षेप में विवेचन कीजिए ?
- प्रश्न 21 —आलाप पद्धति के रचयिता कौन थे। इसमें प्रमुख कितने अधिकार हैं ?
- प्रश्न 22 —जैन न्याय की अन्य पाँच कृतियों का उल्लेख कीजिए ?
- प्रश्न 23 —सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण लिखो।
- प्रश्न 24 —परीक्षा किसे कहते हैं ?
- प्रश्न 25 —नय और नयाभास में अन्तर बताइए ?
- प्रश्न 26 —अनुमानाभास किसे कहते हैं ?
- प्रश्न 27 —अश्म लोष्ट न्याय को समझाइये ?
- प्रश्न 28 —काकतालीय न्याय किसे कहते हैं ?
- प्रश्न 29 —वृद्ध कुमारी वाक्य (वर) न्याय के बारे में बताइये ?
- प्रश्न 30 —किन्हीं अन्य दो प्रसिद्ध न्यायों को समझाइये ?
- प्रश्न 31 —न्याय की परिभाषा क्या है ?
- प्रश्न 32 —न्याय के मुख्य अंग कितने हैं उनके नाम लक्षण सहित बताओ।
- प्रश्न 33 —प्रमाण का लक्षण क्या है ?
- प्रश्न 34 —लक्षणाभास किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

- प्रश्न 35 — सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं एवं इसके कितने भेद हैं ?
- प्रश्न 36 — मतिज्ञान के 336 भेद कैसे हुए ? स्पष्ट करें ।
- प्रश्न 37 — साध्य के लक्षण बताइये।
- प्रश्न 38 — प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं। इसके कितने भेद हैं।
- प्रश्न 39 — पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं ?
- प्रश्न 40 — अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?
- प्रश्न 41 — मनः पर्यय ज्ञान का लक्षण बताइये ?
- प्रश्न 42 — सर्वज्ञ के अस्तित्व को तर्क सहित सिद्ध कीजिये।
- प्रश्न 43 — प्रमेय किसे कहते हैं ?
- प्रश्न 44 — प्रमेय के कितने रूप बनते हैं ?
- प्रश्न 45 — प्रमाण के कितने फल माने हैं? उनके लक्षण लिखो।
- प्रश्न 46 — अनेकान्त का लक्षण क्या है ?
- प्रश्न 47 — हेत्वाभास का लक्षण और उसके भेद बताओ ?
- प्रश्न 48 — अकिंचित्कर किसे कहते हैं ?
- प्रश्न 49 — उदाहरणाभास के कितने भेद हैं ?
- प्रश्न 50 — आगम और आप्त में क्या अन्तर है ?
- प्रश्न 51 — जैनागम के मर्म को समझने के लिए किन ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।
- प्रश्न 52 — षड् दर्शनों में कौन-कौन से प्रमुख दर्शन समाविष्ट हैं ?
- प्रश्न 53 — जैन धर्म कब से प्रारंभ हुआ और इसके संस्थापक कौन थे ?
- प्रश्न 54 — ईश्वर सृष्टिकर्ता के संदर्भ में वैशेषिक का क्या मत है ?
- प्रश्न 55 — समवाय सम्बन्ध का क्या अर्थ है ?
- प्रश्न 56 — ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने में जैनाचार्यों के मतानुसार कौन-कौन से दोष प्राप्त होते हैं?
- प्रश्न 57 — सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?
- प्रश्न 58 — ज्ञान के भेदों के नाम बताइये ?
- प्रश्न 59 — परोक्ष ज्ञान कौन कौन से हैं ?
- प्रश्न 60 — मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम बताइये।
- प्रश्न 61 — मतिज्ञान किसे कहते हैं ? इसके प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं ?
- प्रश्न 62 — श्रुतज्ञान के मूल भेद कौन-कौन से हैं ?
- प्रश्न 63 — बारह अंगों के नाम बताइये ?
- प्रश्न 64 — चौदह पूर्वों के नाम बताइये ?
- प्रश्न 65 — अंग बाह्य श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं।
- प्रश्न 66 — आचारांग की विषय वस्तु क्या है ? इसके पदों की संख्या कितनी है ?
- प्रश्न 67 — प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं इसके प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं ?
- प्रश्न 68 — भवप्रत्यय अवधिज्ञान किसे कहते हैं, ये किनके होता है ?
- प्रश्न 69 — क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान किसे कहते हैं ये किनके होता है ?

- प्रश्न 70 —क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान के कौन-कौन से भेद हैं ?
- प्रश्न 71 —मनःपर्यय ज्ञान किसे कहते हैं इसके भेद कौन-कौन से हैं ?
- प्रश्न 72 —केवलज्ञान का विषय क्या है ?
- प्रश्न 73 —एक जीव में एक साथ कम से कम और अधिक से अधिक कितने ज्ञान हो सकते हैं ?
- प्रश्न 74 —चार अनुयोग कौन-कौन से हैं ?
- प्रश्न 75 —प्रथमानुयोग की विषय-वस्तु क्या है इनके किन्हीं चार ग्रंथों के नाम बताइये ?
- प्रश्न 76 —करणानुयोग किसे कहते हैं इनके किन्हीं चार ग्रंथों के नाम बताइये।
- प्रश्न 77 —चरणानुयोग की विषयवस्तु को बताते हुए इनके चार ग्रंथों का नामोल्लेख कीजिए ?
- प्रश्न 78 —द्रव्यानुयोग का स्वरूप बताइये, इस अनुयोग के प्रमुख चार ग्रंथों के नाम बताइये ?